प्रिथीराज राठौड़

भारतीय साहित्य के निर्माता

प्रिथीराज राठौड़

रावत सारस्वत

साहित्य अकादेमी

विषय-क्रम

प्रिथीराज का युग

विगत पाँच शताब्दियों से निरन्तर होते हुए मुस्लिम आक्रमणों के परिणामस्वरूप, तथा केन्द्रीय सत्ता में बार-बार होने वाले परिवर्तनों के कारण समूचे देश में जो अस्थिरता एवं अशान्ति व्याप्त थी, उसे सुदृढ़ स्थिरता एवं अपेक्षाकृत शांति की स्थिति में बदल देने का श्रेय मुग़ल साम्राज्य के सर्वश्रेष्ठ अधिष्ठाता के रूप में अकबर को प्राप्त हुआ। उसने अनेक सफल सैनिक अभियानों द्वारा समस्त उत्तरी भारत एवं सुदूरपूर्व के तथा सीमांत प्रदेशों को एक केन्द्रीय सत्ता के अधीन करने का प्रयास किया। अकबर की एक बहुत बड़ी नीतिगत विजय यह मानी गई है कि उसने अनेक राजपूत राज्यों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर उनका सहयोग प्राप्त किया। तत्कालीन राजस्थान चौहान, राठौड़, पँवार, गौड़, कछवाहा आदि अनेक क्षत्रिय जातियों के छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था, जो किसी-न-किसी प्रकार से केन्द्रीय सत्ता के अधीन रहते आये थे। यद्यपि मेवाड़ के गुहिल सदैव ही एक महान शक्ति के रूप में रहे थे, पर खानवा के युद्ध में बाबर के हाथों सांगा की पराजय से उस शक्तिमत्ता की बड़ी क्षति हो गई थी। सांगा का यह शक्ति-परीक्षण मात्र गुहिलों का ही नहीं अपितु समस्त राजपूत राज्यों का कहा जाना चाहिए, क्योंकि उन अनेक राज्यों ने भी उसमें हिस्सा लिया था। मारवाड़ में मालदेव का अभ्युदय भी अधिक टिका नहीं रह सका और उसे शेरशाह के हाथों पराजय का मुख देखना पड़ा। उसके पुत्र उदयसिंह को अकबर की शरण लेनी पड़ी। बीकानेर के राव कल्याणमल तथा जयपुर के भारमल ने अपनी लड़कियाँ देकर बादशाही मेहरबानी हासिल की। उन क्षत्रिय कुलों के अनेक व्यक्तियों को मुग़ल सेना में मनसब देकर तथा दूसरी सेवाओं में रखकर इन वैवाहिक सम्बन्धों को दृढ़तर बनाया गया। इनके साथ ही बहुसंख्यक राजपूतों को सेना में भर्ती करके आकर्षक रोज़गार प्रदान किया गया। मेवाड़ के अतिरिक्त शेष सभी तत्कालीन राजपूत राज्य राजनीतिक दृष्टि से तो परावलम्बी थे ही, आर्थिक रूप से भी उनकी स्थिति शोचनीय ही थी। आमेर का राज्य मेवातियों, पठानों आदि से तो त्रस्त था ही, स्थानीय मीणों ने भी उसके नाकोंदम कर रखा था। भारमल ने जिस संकटापन्न पारिवारिक स्थिति से उबर कर गद्दी हासिल की थी, उसमें उसके लिए अपना अस्तित्व बनाये रखना

एक चुनौती बन गई थी। इसीलिए उसने न केवल अकबर को अपनी लड़की दी, बल्कि इससे पूर्व अजमेर के सूबेदार हाजीखाँ को शान्त करने के लिए भी अपनी एक लड़की दी थी। यदि वह ऐसा नहीं करता तो आक्रामकों से घिरी हुई उसकी छोटी-सी रियासत अधिक टिक नहीं पाती। अकबर का संरक्षण पाकर ही वह न केवल निश्चिन्त हो गया, अपितु उसके निष्कंटक राज्य और भौतिक श्रीवृद्धि का सूत्रपात भी हुआ। उधर जोधपुर और बीकानेर के राठौड़ पारस्परिक कलह में आमग्न थे। बीकानेर के नवगठित राज्य के लिए जोधपुर के अधिक समर्थ राज्य का सामना करना कठिन था। इसी उद्देश्य से राव कल्याणमल ने शेरशाह की मदद ली थी और अकबर का संरक्षण प्राप्त करने के लिए उसे लड़कियाँ सौंप दी थीं। इस सम्बन्ध से प्रेरित होकर ही अकबर ने कल्याणमल के पुत्र-पौत्रों को राजकीय सेवा का अवसर दिया था। मेवाड़ पर आक्रमण करके चित्तौड़ को ध्वस्त करने का अकबर का प्रयास गुहिलों की शक्ति को क्षीण करने में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ। महाराणा कुम्भा तथा सांगा के समय का उसका गौरव सदा के लिए समाप्त हो गया था, भले ही वे नाममात्र के लिए अपने आपको अपेक्षाकृत स्वतन्त्र समझते रहे हों। सामन्त राज्यों पर उनके वर्चस्व का प्राय: अन्त ही हो गया था।

असिजीवी क्षत्रिय समाज के लिए मुग़लों का यह उत्कर्ष एक प्रकार से वरदान ही था। बहुसंख्यक राजपरिवारों के व्यक्ति मनसबदार बनते जा रहे थे, जिससे सैनिक सवारों के रूप में साधारण क्षत्रियों के लिए भर्ती के नये द्वार खुले थे। अपने राज्यों में उन्हें सैनिक सेवाओं का जो नाममात्र का पारिश्रमिक मिलता था उसकी तुलना में मुग़ल सेना का वेतन और अन्य सुविधाएँ कहीं बढ़ी-चढ़ी थीं। इनके अतिरिक्त सैनिक अभियानों की लूट-खसोट में भी उन्हें कुछ-न-कुछ प्राप्त होता रहता था। यह बात दूसरी थी कि मनसबदार लोग अपने अधीनवर्ती सैनिकों और उनके घोड़ों को वह पूरा वेतन नहीं देते हों, जो उनके लिए नियत था। ऐसा वेतन एकमुश्त उतने मूल्य की जागीर के रूप में प्रदान किये जाने के कारण भी सैनिकों को सीधा वेतन नहीं मिल पाता था। फिर भी जहाँ रोज़गार का मिलना ही प्रधान बात हो, वहाँ इन कमियों की चर्चा व्यर्थ थी। इस प्रकार, क्षत्रिय राज्यों और उनके सैनिकों की सुधरती आर्थिक स्थिति का लाभ उन-उन राज्यों की साधारण माली हालत पर पड़ना भी स्वाभाविक था। इन्हीं सैनिकों के साथ 'वहीर' में चलनेवाले व्यापारियों तथा अन्य शिल्पियों-श्रमिकों को भी साधन-सम्पन्न बनने में सहायता मिली। दूर-दूर के सैनिक अभियानों में जानेवाले ये सैनिक और 'बहीर' के लोग अनेक तरह के अनुभव और सामान लेकर स्वदेश लौटते, जिनसे स्थानीय गाँवों और बाजारों में एक नई हलचल उत्पन्न होती और व्यापारिक यात्राओं की लालसा जगती। इन्हीं राजकुलों के साथ पण्डित, वैद्य, कवि, परिचारक आदि अनेक लोग और संलग्न अन्त:पुरों की स्त्रियों की दासियाँ

भी इन अभियानों में साथ रहतीं। राजपूत मनसबदारों के खेमों से सटे ये छोटे-से-छोटे गाँव प्राय: भ्रमणशील जीवन यापन करते पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक की दूरियाँ नापा करते थे। देश के अन्यान्य भागों की समृद्धि और मुग़ल अमीर वर्ग के वैभव से उनके हृदय भी उस जीवन के प्रति उत्कट लालसा से उमगे रहते थे।

पर दूसरी ओर, उनका अपना राज्य-प्रबन्ध पराश्रित होता जा रहा था। लम्बी अवधि तक अभियानों में संलग्न रहने और घर आने का अवकाश नहीं मिलने के कारण *उनकी आन्तरिक व्यवस्था व्यापारी वर्ग के लोगों द्वारा ही* संचालित होती थी। इस विवशता का लाभ उठाकर इन वणिक् दीवानों ने राज-परिवारों को अपनी राजनीतिक कुटिलता के शिकंजे में कस लिया था। इससे पूर्व भी आर्थिक दृष्टि से अक्षम रहने के कारण इन राज्यों को साहूकारों से सहायता लेनी पड़ती थी। बड़े पूँजीपतियों, व्यापारियों और साहूकारों को अपने-अपने राज्यों में आकर्षित कर बसाने की एक होड़-सी लगी रहती थी। वे लोग भी जहाँ कहीं अधिक सुविधाएँ मिलतीं और सुरक्षा का विश्वास होता, वहीं बसना पसन्द करते थे। ऋण आदि देकर वे सहज ही राजपरिवारों तथा अन्य अनेक साधारण लोगों को अपने वशवर्ती बना लेते थे। व्यापार के सिलसिले में माल के आवागमन तथा लेन-देन के लिए उन्हें भी काफ़ी संख्या में विश्वस्त व्यक्ति रखने पड़ते थे। इस कारण उनके प्रभुत्व का क्षेत्र अधिक विस्तृत होता रहता था। राजपरिवारों के वैवाहिक सम्बन्ध, रावलों की व्यवस्था, राज्यों का साधारण रख-रखाव आदि सभी में उनका दख़ल रहता आ रहा था। इतना ही नहीं, सैनिक अभियानों में दोनों पक्षों का विश्वास प्राप्त कर वे अपने व्यावसायिक लाभ के साथ ही, अन्य स्वार्थ भी सिद्ध करते थे। उत्तर मुग़ल काल में अनेक राज्याधिपतियों ने इस समाज पर अपना कोप प्रकट किया था, पर उनकी जड़ें बड़ी गहरी थीं, जिन्हें उखाड़ फेंकना सम्भव नहीं हो सका। जयपुर के झूँथाराम संगही तथा बीकानेर के कर्मचन्द मेहता के उदाहरण इसी समस्या को प्रकट करते हैं। राजघरानों से नीचे उतर कर यह व्यवस्था छोटे-बड़े ठिकानों तक भी पहुँच गई थी और कामदारों के रूप में वणिज वर्ग के लोग ही हावी होने लगे थे। साधारणत: राजपूत समाज व्यवस्था तथा हिसाब-किताब के कामों में न तो भलीभाँति शिक्षित ही हो सका और न सैनिक कार्यों के अतिरिक्त अन्य किसी कार्य में उसकी रुचि ही थी, इसलिए वणिकों के इस बढ़ते वर्चस्व को रोकने का कोई विकल्प नहीं था।

मरुस्थलीय क्षेत्रों में कृषिकर्मी जातियाँ वर्षा के भरोसे अपना जीवन-यापन करती थीं। खालसा और जागीर के सभी गाँव राजाओं और जागीरदारों की निरन्तर बढ़ती हुई माँगों को पूरा करने में असमर्थ रहने के कारण अपनी प्राथमिक आवश्यकताएँ भी बड़ी कठिनता से पूरी कर पाते थे। संयुक्त-परिवार-प्रथा होने

के कारण जनबल के धनी कुछ परिवार अपेक्षाकृत अच्छी स्थिति में भले ही रहे हों, पर औसत कृषक के लिए कृषि ही एकमात्र आधार थी। उसके असफल होने पर भूखों मरने की नौबत आ जाती थी। पशुधन के सहारे थोड़ा गुज़ारा चल पाता था। पर अकाल की स्थिति में उसे भी मालवा की ओर ले जाकर जिन्दा रखना पड़ता था। सिंचाई के साधन जिन राज्यों में उपलब्ध थे, उनकी स्थिति अधिक अच्छी थी। पर लोग-बाग़ के भार और ग्रासियों की ज्यादतियों से वे लोग भी त्रस्त रहते थे। दूसरे, कारू-शिल्पी लोगों का भी प्रधान अवलम्ब कृषि रहने के कारण वे भी उसी अनुपात में सुख-दुख के भागी बनते थे।

बुद्धिजीवी वर्गों में व्यवसायी वणिकों और हस्तशिल्पियों के अतिरिक्त ब्राह्मण, भाट, चारण आदि थे। भाटों और चारणों का सम्बन्ध तो राजपरिवारों, राजपुरुषों और क्षत्रियों तक ही सीमित था, पर ब्राह्मण अपने धार्मिक ज्ञान के एकाधिकार के कारण सर्व-सम्मान्य थे। उनके सामने जीवन-यापन का प्रश्न तो कभी रहा ही नहीं था, पर हाँ, समृद्धि का उतार-चढ़ाव तो आश्रयदाता क्षत्रिय अथवा वणिक के अनुरूप ही चलता था। ब्राह्मण प्रायः ज्योतिषी, वैद्य, कर्म-काण्डी, कथावाचक आदि व्यवसायों में लगे रहते थे। पारम्परिक उच्च शिक्षा भी उन्हीं के परिवारों में थी। वणिक लोग भी हिसाब-किताब की दक्षता अपने समाज में ही प्राप्त कर लेते थे और चारण-भाट भी परम्परागत काव्य-कला घरों में ही सीख लेते थे। अधिक सौभाग्यशाली लोग किसी अधिक कुशल कवि का सान्निध्य प्राप्त कर पाते थे। पुस्तक लेखन का कार्य प्रायः ब्राह्मण, मथेन, सेवक, भोजक आदि जातियों के लोग करते थे। चारण, भाट अपनी रचनाएँ अपने ही स्तर पर लिपिबद्ध करवा लेते थे। ग्रन्थ-रचना का कार्य धार्मिक सम्प्रदायों में भी प्रचुर मात्रा में होता था। जैन मुनि और आचार्य अपने धार्मिक ग्रन्थों को लिपिबद्ध करते रहते थे और स्वयं भी अनेक तरह से पारम्परिक रचनाएँ करते थे। संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं और साहित्यों के अध्ययन के लिए व्याकरण तथा काव्य-ग्रन्थों का पठन-पाठन भी प्रचलित था। विविध विषयों के विशिष्ट ग्रन्थों पर संस्कृत एवं भाषा की टीकाओं का भी प्रचलन था। काव्यों और वार्ता-ग्रन्थों को चित्रित करने-वाले चित्रकार भी थे, जो राजभवनों, देवालयों आदि को भी चित्रों और अलंकरणों से सजाते रहते थे। देवभवनों का निर्माण सतत् रूप से चलता रहता था, जिनके लिए मूर्तिकार भी व्यस्त रह सकते थे। सम्पन्न व्यक्तियों के आवास भी तक्षण किए हुए पत्थरों, काष्ठद्वारों आदि से सजाने में शिल्पियों की आवश्यकता बनी रहती थी। सोने-चाँदी के आभूषणों तथा रंगीन और छपाई के वस्त्रों की माँग बराबर बनी रहती थी, जिससे इन शिल्पियों का काम भी चलता रहता था। निरन्तर युद्ध की स्थिति रहने से अस्त्र-शस्त्रों के बनानेवालों तथा सिकलीगरों की पूछ भी बनी रहती थी। घोड़ों के सौदागर और बनजारे स्थान-स्थान पर जाकर

अच्छा लाभ कमाते थे। नटों-स्वाँगों-भांडों आदि जातियों के लोगों द्वारा मनोरंजन सम्भव था। ख्याल, रम्मत, भवाई, गौरी आदि के प्रदर्शनों से भी लोग मन बहलाते थे।

श्रमिकों की स्थिति अच्छी नहीं थी। वे क्रीतदासों के रूप में ऋणग्रस्त बन्धक परिवारों के रूप में; थोड़े से पैसों के लिए भारवाहकों, खनकों, लकड़हारों तथा अन्य ऐसे ही श्रम-साधक कामों में खेतों, जंगलों, खानों, कमठानों आदि पर जीवन-यापन करते थे। उनकी शोचनीय स्थिति पर ध्यान देनेवाला कोई न था।

आवागमन के साधन नगण्य होने के कारण प्रत्येक आदमी दूर कहीं जाने की कल्पना नहीं कर पाता था। वह आस-पास के गाँवों में भी आवश्यकतावश पैदल ही जा पाता था। ऊँटों और बैलगाड़ियों की सवारियाँ अपेक्षाकृत सरलता से मिल जाती थीं। यही कारण था कि रिश्ते-नाते प्रायः आस-पास के ही गाँवों तक सीमित रहते थे। इसी कारण संदेश भिजवाने में भी परामुखापेक्षी रहना पड़ता था। व्यापारियों की कोठियों और राजकीय डाक-व्यवस्था का लाभ भी गिने-चुने लोग ही उठा पाते थे। तत्कालीन लोक साहित्य में संदेशों के लिए तरसते परिजन उस स्थिति की मर्मान्तक वेदना प्रकट करते हैं।

गाँवों-कस्बों के लोग जातिगत मुहल्लों में बसते थे। उनकी अपनी जाति-पंचायतें उनकी समस्याओं का समाधान करती थीं। गाँवों के लोग प्रायः जाति-समूहों में भी बँटे रहते थे। एक ही प्रधान जाति की बहुलतावाले अनेक गाँव होते थे। दूसरी जाति के लोग उनकी छाया में ही रह पाते थे। जागीरों के गाँवों-कस्बों में जागीरदार के परिवार का प्रभुत्व कभी-कभी आतंक की सीमा तक पहुँच जाता था। जागीरदार से रूठ कर चलनेवाले परिवार के लिए वहाँ कोई गुंजायश नहीं थी।

गाँवों-कस्बों में चोरियाँ और डाके कभी-कदास ही पड़ते थे पर कहीं-कहीं उद्दंड राजपूत अपने सहयोगियों के साथ राहजनी कर लेते थे। यदि जागीरदार या राज्याधिकारी निर्बल होते तो उन्हें दबाना कठिन होता। फिर भी कुल मिलाकर साधारण लोगों के लिए यात्रा निरापद रहती थी। सम्पन्न लोग यात्रा में रक्षकों को साथ रखते, जो काम पड़ने पर अपना जीवन न्यौछावर कर देते थे। अनेक व्यापारिक लोग चारण-भाटों को सुरक्षा का जिम्मा दे देते थे, क्योंकि वे न केवल अवध्य समझे जाते बल्कि उन्हें सामान पर करों में भी छूट थी। ऐसे लोग अनेक बार इस रियायत का ग़लत लाभ उठाते थे।

प्रायः लोगों का चरित्र-बल बहुत ऊँचा था। जाति, समाज और गाँव के भाई-चारे के बन्धन बड़े असरदार थे। पारस्परिक सहयोग अनुकरणीय था। विवाह, रोग, शोक, उत्सव, कृषि, चोरी, धाड़ा आदि सभी अवसरों पर वे एकजुट होकर एक आदर्श उपस्थित करते थे। गाँव की बहू-बेटियों का सम्मान और सुरक्षा मानी

हुई बात थी। लोग निस्संकोच गाँव के किसी भी व्यक्ति के साथ बहू-बेटी को दूसरे गाँव पहुँचा देते थे। इस प्रकार की कल्पना भी करना आज की शताब्दी में दुष्कर लगता है। यही चरित्र बल पराई सम्पत्ति के सम्बन्ध में भी देखा जा सकता था।

क्षत्रिय परिवारों की स्थिति नितांत भिन्न थी। बहुत कम साधारण श्रेणी के राजपूत कृषि-कार्य करना पसन्द करते थे। शेष उस धन्धे को नीची दृष्टि से ही देखते थे। घोड़ा और तलवार ही उनकी आजीविका के मुख्य साधन थे, जिन्हें वे सम्मानजनक समझते थे। दहेज के कारण आर्थिक स्थिति से डरकर वे कन्या का वध भी करते थे। सती प्रथा से साधारण राजपूतों के परिवार छिन्न-भिन्न हो जाते थे और सती न होने पर परिवारों में विधवाओं को कारुणिक जीवन बिताना पड़ता था। फिर भी संघर्षों से जूझते हुए उन्होंने अपना अस्तित्व बनाए रखा था। पारम्परिक अफ़ीम-सेवन का रिवाज तो था ही पर यवन सभ्यता के प्रभाव से मदिरा का प्रचलन भी अधिक हो चला था। इसी सभ्यता के प्रभाव से बहुपत्नीत्व की प्रथा को भी बढ़ावा मिल रहा था, यद्यपि यह उच्च वर्ग के क्षत्रियों में ही अधिक थी। इसका एक कारण यह भी था कि राजपरिवार अपनी लड़कियाँ समान स्तर के अथवा उच्चस्थ राजपरिवारों में ही देना पसन्द करते थे। इस कारण बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह भी करने पड़ते थे। बहुपत्नीत्व के कारण विवाहिताओं के दुखी जीवन के अतिरिक्त परिवारों में आंतरिक कलह भी बढ़ते जाते थे। राजा-गण त्याग में एक-दूसरे से बढ़-चढ़ने की होड़ में बूते से बाहर जाकर चारणों-भाटों तथा अन्य याचकों को द्रव्य देते थे, जिनसे ऋण लेने तक की नौबत आ जाती थी।

समूची क्षत्रिय जाति एक झूठे दम्भ और सामाजिक वरीयता के अहंकार में जी रही थी। पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष, मान-सम्मान, ऊँच-नीच, कुलगत वैमनस्य और प्रतिशोध के उनके जातीय गुणावगुण उनकी संगठित शक्ति में बाधक बने हुए थे। भूमि पर अधिकार की लालसा उनकी मुख्य कमजोरी थी। इसी स्वार्थ में अन्धे होकर वे अपनी बेटियों को विधवा भी बनाने लगे थे। पिता-पुत्रों-भाइयों की हत्या करने और कुटिल नीति में निम्नतम स्तर पर भी उतरने में वे नहीं हिच-किचाते थे। मुग़लों का संरक्षण पाकर अनेक राज-परिवारों ने अपने प्रतिशोध की ज्वाला को शान्त करने के प्रयास किए थे।

स्त्रियों की कोई सामाजिक स्थिति नहीं थी। उनका घर ही उनका संसार था। उनमें शिक्षा का नितान्त अभाव था और पारिवारिक संस्कारों के अच्छे-बुरे असर से वे सुख-दुःख का जीवन बिता लेती थी। परदे का रिवाज व्यापक था। क्षत्रियों में तो यह कष्ट की सीमा तक पहुँच गया था। घरों का सारा धन्धा उन्हीं के ज़िम्मे था। छोटी जातियों में तो वे खेती का काम भी करतीं और पशुधन की देखभाल भी। पुरुष केवल विशेष श्रम-प्रधान कार्य ही करते अथवा बाहर आने-जाने का।

अन्यथा वे बेकार बैठे तम्बाकू पीते या निठल्ली बातें करते। पति अथवा बेटों के पास में न रहने पर स्त्रियों का सम्मिलित परिवारों में निर्वाह भी दुखद होता था। वैसे स्त्री-मात्र का जीवन प्राय: पराधीन अवस्था में ही व्यतीत होता था। सामाजिक असुरक्षा, व्यावसायिक शिक्षा का अभाव और पारम्परिक न्यायविधि ने उन्हें सदैव ही पुरुष की वशवर्तिनी ही बनाए रखा। उनके दु:ख-दर्द को प्रकट करने का कोई प्रयत्न साहित्यकारों ने भी नहीं किया। वे सदैव उनके देहगत आकर्षण को ही मन-बहलाव का विषय मानते रहे। यौवन, श्रृंगार, विरह, मिलन, तृष्णा, रूठना-मनाना, करुणा, वात्सल्य आदि वर्णनों में उलझी हुई उनकी नारी इसी एकांगी भाव में चित्रित होती रही। यही बात चित्रकारों और मूर्तिकारों पर भी लागू होती है।

यद्यपि मुस्लिम धर्म के माननेवाले, या यों कहें, अधिकांशत: बलात् धर्म परिवर्तन के कारण बने मुसलमान, क्रमश: बढ़ते जा रहे थे, पर बहुसंख्यक समाज हिन्दुओं का ही था। इस विशाल समाज में अनेक सम्प्रदाय और मत-मतान्तर सदैव से ही रहते आये हैं। प्राचीन सम्प्रदाय भी धीरे-धीरे या तो नवीन कायाकल्प करते अथवा दूसरे नये विचारों के सम्प्रदायों के सामने विलीन हो जाते।

प्रिथीराज का युग एक ओर तो शाक्त और शैव सम्प्रदायों के क्रमिक अध:पतन का और दूसरी ओर वैष्णव सम्प्रदाय की रामभक्ति और कृष्णभक्ति शाखाओं के अभ्युदय का संक्रमण-काल था। रामानन्द और निम्बार्काचार्य के शिष्य सगुणोपासना का यह नया सन्देश लेकर राजपूत राज्यों में भी प्रवेश कर चुके थे। अन्त:पुरों में इन सम्प्रदायों का, विशेषत: निम्बार्कों का, प्रभुत्व बढ़ता जा रहा था। वल्लभाचार्य के पुष्टि सम्प्रदाय से भी इस मत को समर्थन मिला। फलत: मीराँ जैसी भक्त ने जन्म लिया और कृष्ण-भक्ति की लहर समूचे राजस्थान में व्याप्त हो गई। यद्यपि क्षत्रिय कुल अपने परम्परागत इष्ट-देवों और कुलदेवियों का सम्मान बनाए हुए थे, पर जन-सामान्य में राधा-कृष्ण की मधुरा-भक्ति का आकर्षण प्रबल हो रहा था। वृन्दावन तथा मथुरा के पुण्य धामों की सन्निकटता और गोप-गोपियों की रासलीला के सुखद प्रसंग इस भक्ति के प्रचार-प्रसार में सहायक हुए। कृष्ण-लीला के नाना प्रसंगों ने श्रीमद्भागवत का व्यापक प्रचार किया। भागवत के सप्ताहों का आयोजन एक यज्ञ का-सा रूप लेने लगा। द्वारका-धाम की यात्राओं का सिलसिला चलने लगा। वृन्दावन, मथुरा आदि स्थानों से मूर्तियाँ लाई जाकर प्रतिष्ठित की जाने लगीं। रानियों की प्रेरणा से विविध नामों से राधाकृष्ण के मन्दिर बनने लगे। नरसी कृत 'भायरो', पदम भगत कृत 'विवाहलो' आदि अनेकानेक लोक रचनाएँ बनने लगीं, जिनमें मुख्यत: महिला समाज की भक्ति-भावना में वृद्धि हुई। साहित्य में भी कृष्ण-रुक्मिणी का विवाह-प्रसंग, नागलीला, कंस-वध, सुदामा-प्रसंग, गीता-प्रवचन आदि विषयों पर रचनाएँ

होने लगीं। भागवत के दशम स्कंध के भाषानुवाद भी हुए।

इस धारा से हट कर कुछ क्रान्तिकारी सम्प्रदाय भी खड़े हो रहे थे, जिन्हें ग्रामीण समाज का बल प्राप्त था। इसमें शैवों की निर्गुण भक्ति और वैष्णवों की सगुण भक्ति का समन्वय-सा था। इनकी अपनी विशेषता इनके नियमों की व्याव-हारिकता और जीवन में उनकी उपादेयता थी। इस दृष्टि से इन मतों के मानने-वालों के भौतिक एवं चारित्रिक उत्थान में बड़ी सहायता मिली। बीकानेर क्षेत्र के ये दो मत विष्णोई तथा जसनाथी सम्प्रदायों के नाम से ज्ञात हैं। विष्णोई सम्प्रदाय का प्रभाव अपेक्षाकृत अधिक व्यापक है। जसनाथी सम्प्रदाय की जड़ें अभी शैव मत की प्राचीन भूमि को पूर्णतः छोड़ नहीं पाईं।

फिर भी इन दोनों ने मरुस्थलीय क्षेत्र के जनमानस को उद्वेलित कर उसमें नये स्फुरण का बीजारोपण किया था। तत्कालीन साहित्य में भी उनका प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा था। परम्परागत कथानकों के माध्यम से इन्होंने अपनी नवीन मान्यताओं को प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया, जो बड़ा सफल सिद्ध हुआ।

इसी समय एक और महत्त्वपूर्ण निर्गुणी सम्प्रदाय का उदय हुआ, जो दादू पंथ के नाम से जाना गया। दादू के मुख्य स्थान ढूंढ़ाड़ में आमेर तथा नराणा थे। इनके शिष्यों के '५२ थांभे' प्रसिद्ध हुए। राजस्थान के अनेक राज्यों में दादू के शिष्यों ने दादूद्वारे स्थापित किए और दादूवाणी का प्रचार किया। इस पंथ के उपदेशों ने भी बड़े पैमाने पर जनसाधारण को प्रभावित किया। इसके अतिरिक्त अन्य अनेक छोटे-बड़े सम्प्रदाय भी अपनी-अपनी विचारधारा लेकर प्रकट हो रहे थे। पर कृष्ण-भक्ति के प्रबल प्रवाह के सामने उनका टिकाव छोटे-छोटे एकान्तिक समुदायों में ही सम्भव हुआ।

जीवन-वृत्त

वंश-परम्परा

बीकानेर राजवंश के संस्थापक राव बीका से चौथी पीढ़ी में (**बीका-लूणकर्ण जैतसी-कल्याणमल**) अकबर के समकालीन राव कल्याणमल हुए। कल्याणमल के ग्यारह पुत्र थे, जिनमें से चार—रायसिंह, रामसिंह, प्रिथीराज तथा सुरताण—उनकी सोनगरा वंश की रानी से उत्पन्न हुए थे। यह रानी अखैराज सोनगरा की पुत्री भक्तिमती थी। गो० ही० ओझा ने **'कर्मचन्द्र वंशोत्कीर्तनकं काव्यम्'** नामक संस्कृत ग्रंथ के उल्लेख से बताया है कि इस रानी का नाम रत्नावती था। शेष पुत्र (भाण, अमरा, गोपालदास, राघवदास, डूंगरसी, भाखरसी, भगवानदास) अन्य रानियों से उत्पन्न हुए थे। पुत्रों की सही संख्या के विषय में पृथक्-पृथक् धारणाएँ हैं। प्रिथीराज का जन्म मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा, संवत् १६०६ को हुआ था। प्रिथीराज के दो पुत्र—सुदर्शन (सुन्दरसिंह) और गोकुलदास—हुए। इनकी जागीर भूतपूर्व बीकानेर राज्य के गाँव ददरेवा (जिला चूरू) में थी। इनके वंशज 'प्रिथीराज वीका' कहलाते हैं। गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने अपने **'बीकानेर राज्य का इतिहास'** में इनका वंश-वृक्ष इस प्रकार दिया है—प्रिथीराज, सुन्दरसेन (सुन्दरसिंह), केसरीसिंह, विजयसिंह, छत्रसिंह, जीतसिंह, मुनकसिंह, कुशलसिंह, लूणकर्ण, सूरजमल, हरिसिंह, गणपतसिंह, तथा मेघसिंह। संवत् १७३२ के एक उल्लेख में सुदर्शन के तीन पुत्र केसरीसिंह, सत्रसाल तथा मानसिंह, और केसरीसिंह के फतहसिंह व हरनाथ बतलाए गए हैं। गोकलदास के पुत्र जगतसिंह, माधोसिंह और नाहरखान (जो बादशाही फ़ौज से लड़े) लिखे गये हैं।

वैवाहिक जीवन

जनश्रुतियों के अनुसार प्रिथीराज के तीन विवाह हुए थे। इनकी पहली पत्नी जैसलमेर के रावल हरराज की पुत्री 'लालांदे' बताई जाती है। हरराज की एक पुत्री 'गंगा' प्रिथीराज के बड़े भाई महाराजा रायसिंह को ब्याही थी तथा

एक अन्य पुत्री सम्राट अकबर को सौंपी गई थी। रावल हरराज अपने साहित्य-प्रेम के लिए विख्यात थे। इनके विद्यागुरु तत्कालीन सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् वाचक कुशललाभ थे। 'पिंगलशिरोमणि' नामक ग्रंथ रावल हरराज की रचना समझ कर प्रकाशित किया गया है। हरराज की एक पुत्री लालाँदे कुलशील सम्पन्न, मधुर स्वभाव की तथा सुन्दरी थी। शाही सेवा में लम्बे प्रवास के कारण वचनबद्ध होकर भी जब प्रिथीराज निर्धारित तिथि को नहीं लौट पाए तो लालाँदे ने निम्न दूहा कहा था--

पति परतिग्या साँमळो, अवध उलंघन थाय।
प्राण तजूँ तो विरह में, कदे न राखूँ काय।।

(हे पति, अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण करो, अवधि बीती जा रही है। अब मैं आपके विरह में प्राण-त्याग कर रही हूँ, यह काया और नहीं रखूँगी।)

प्रिथीराज जब लौटे तो पत्नी के देहान्त की दुखद घटना से अत्यन्त शोक-ग्रस्त हो गए। श्मशान में चितादाह के अवसर पर उन्होंने निम्नलिखित मार्मिक छन्द कहे—

कंथा ऊभाँ कामणी, साईं थूँ मत मार।
रावण सीता ले गयो, वै दिन आज संभार।।

(हे प्रभु, पति के रहते पत्नी को मत मार। रावण जब सीता को ले गया था, तब मुझ पर क्या बीती थी, उस दुख का स्मरण कर।)

लालाँ लालाँ हूँ कहूँ, लालाँ साद न देय।
मो आँधा री लाकड़ी, मीराँ खींच म लेय।।

(मैं लालाँ का नाम ले-लेकर पुकार रहा हूँ, पर लालाँ कोई उत्तर नहीं देती। हे परमात्मा, मुझ अन्धे की लकड़ी मत छीन।)

तो राँध्यो नँह खावस्याँ, रे वासदे निसड्ड।
मो देखत तैं वाळिया, लालाँ हंदा हड्ड।।

(हे मूर्ख अग्नि, तूने मेरे देखते-देखते लालाँ की हड्डियाँ जला डालीं, मैं आज से तुम्हारे द्वारा पकाई हुई कोई वस्तु नहीं खाऊँगा।)

कहा जाता है कि प्रिथीराज की इस शोकग्रस्त अवस्था को मिटाने के लिए रावल हरराज की ही एक अन्य कन्या 'चंपादे' से प्रिथीराज का विवाह किया गया। महता अजीतसिंह द्वारा संकलित **'जैसलमेर री ख्यात'** में हरराज की कन्या 'चंपाकुँवर' का विवाह प्रिथीराज से होने का उल्लेख मिलता है। चंपादे रूप-लावण्य में तो लालाँदे के समान थी ही, कविहृदया भी थी। इस पत्नी के साथ के प्रिथीराज के अनेक काव्यात्मक प्रसंग प्रचलित हैं। कहा जाता है कि प्रथम मिलन के अवसर पर प्रिथीराज ने चम्पादे को देखकर निम्नलिखित छन्द कहे थे—

आई है चम्पा अठै, वा लालाँ अब नाँह।
चम्पा डगला च्यार, सामा ह्वै दीजै सजळ।
हींडळते गळ हार, हँसतमुखा हरराय री॥

(अब लालाँ नहीं रह गई है, चम्पा यहाँ आई है। हे हरराज की पुत्री चम्पा, गले में हार पहने हुए, मुस्कुराते मुख से तनिक सामने होकर चार डग प्रेमपूर्वक मेरी ओर भरो।)

इस पर चम्पादे ने काव्य-सौष्ठव से भरपूर निम्नलिखित दूहा कहा—

मुकुल परीमल परिहरै, जब आए रितुराज।
अलि नहिं आली ह्यन की, कलि विकसै किहि काज॥

(बसन्त के आगमन पर मुकुलों के परिमल का परित्याग कर भ्रमर कहीं और चले जायें तो कलिका किसके लिए विकसित हो?)

प्रिथीराज ने इस पर यह दूहा कहा—

चम्पा, थूँ हरराज री, हँसकर बदन दिखाय।
मो मन पात कुपात ज्यूँ, कबहूँ त्रिपत न थाय॥

(हे हरराज की पुत्री, चम्पा, तुम हँसकर अपना मुँह दिखाओ। मेरा मन तो कुपात्र याचक की तरह है, जो कभी तृप्त नहीं होता।)

एक और मनोरंजक प्रसंग के अनुसार एक बार जब प्रिथीराज दर्पण के सामने खड़े कोई सफेद वाल उखाड़ रहे थे, तो उनकी पत्नी चम्पादे यह देखकर पीछे खड़ी मुस्कराने लगी। प्रिथीराज ने इस पर यह दूहा कहा—

पीथल धोळा आविया, बहुली लग्गी खोड़।
कामण मतगयन्द ज्यूँ, ऊभी मुक्ख मरोड़॥

(हे पीथल, सफ़ेद बाल आ गए हैं, बहुत दोष लग गया है। कामिनी मत्त हाथी की तरह खड़ी मुँह मरोड़ रही है।)

इस पर चम्पादे ने सान्त्वना बँधाते हुए निम्नलिखित दूहा कहा—

हळ तो धूना धोरियाँ, पंथज गग्धाँ पाव।
नराँ, तुराँ अर वनफळाँ पक्कां-पक्कां साव॥

(हल चलाने में समर्थ तो सधे हुए बैल ही होते हैं और मार्ग भी वयस्क ऊँट ही तय करते हैं, उसी प्रकार नरों, घोड़ों और वनफलों में भी पकने पर ही रस उत्पन्न होता है।)

इस दूहे को प्रकारान्तर से इस प्रकार भी कहा जाता है—

प्यारी कह, पीथल सुणो, धोळां दिस मत जोय।
नराँ, नाहराँ डिगमरां, पाक्यां ही रस होय॥

(प्यारी कहती है, हे पीथल, सुनो, सफ़ेद बालों की ओर ही मत देखो। पुरुष, नाहर और दिगम्बर साधु परिपक्वावस्था प्राप्त होने पर ही काम के होते हैं।)

लालाँदे की तरह चम्पादे को भी अतिशय विरह-वेदना सहनी पड़ी थी, क्योंकि सेवार्थ प्रवास में रहने से प्रिथीराज को घर आने में पर्याप्त समय लग जाता था। ऐसे ही एक दीर्घ प्रवास से लौटने पर चम्पादे ने ये दूहे कहे थे—

बहुदीहाँ हूँ बल्लहो, आयो मन्दिर अज्ज।
कँवळ देख कुम्हळाइयो, कहो स केहइ कज्ज॥
चुगे चुगाए चंच भरि, गए निलज्जे कग्ग।
काया सर दरियाव दिल, आइज बैठे वग्ग॥

(बहुत दिनों से आज प्रिय महल में आया है। कहो, किस कारण मेरा मुख-कमल देखकर आपका मुख कुम्हला गया है। वह स्वयं ही उत्तर देती हुई कहती है कि निर्लज्ज कौए मेरे शरीर का मांस ले-लेकर चले गए हैं, अब तो काया-रूपी नदी तथा दिल-रूपी समुद्र के किनारे बगुले आ बैठे हैं।)

इस पर प्रिथीराज ने निम्न दूहा कहा—

जँह परमल तँह तुच्छ दळ, जँह दळ तँह नँह गंध।
चम्पा केरा तीन गुण, सदळ सरूप सुगंध॥

(जहाँ परिमल होती है वहाँ दल बहुत तुच्छ होते हैं, और जहाँ दल होते हैं वहाँ गंध नहीं होती। किन्तु चम्पा, चम्पादे में तीनों ही गुण एकत्र हैं—सारल्य, सौंदर्य और सौरभ।)

और साथ ही यह भी जोड़ दिया—

चम्पा, चमकंतीह, दाँत कहूँक दामणी।
अहराँ नइ आभा, होड़ पड़ी हरराजउत॥

(हे चम्पा, यह तुम्हारे दाँतों की चमक है या दामिनी ही चमक रही है। हे हरराज की पुत्री, तुम्हारे अधरों ने भी—रसपूरित होने में—सजल मेघों से होड़ लगा रखी है।)

इस प्रसंग के दो और दूहे मिलते हैं, जिनमें प्रिथीराज ने चम्पादे की विरहा-वस्थाजन्य दौर्बल्यगत निराशा को भंग करते हुए कहा है—

काया थिहुर म पेख धन, मूँध म करि अणुराव।
पाताँ, पुरखाँ, वनफळाँ, इहुँ त्रिहुँ पक्काँ साव॥
अवर सहू धवळी भली, निखरो पळी नराँह।
तिण थी कामण यूँ डरै, (जूँ) दीठे कग्ग सराँह॥

(काया-रूपी धन स्थिर नहीं रहता, हे मुग्धे, उपेक्षा न कर। पत्ते, पुरुष और वन के फल, ये तीनों पकने पर ही रस देते हैं। और तो सब जगह ही 'धवल' उत्तम होता है पर पुरुषों के धवल केश ठीक नहीं लगते। उनसे कामिनी ऐसे डरती है, जैसे कौआ तीर को देख कर डरता है।)

चम्पादे से सम्बन्धित एक और प्रसंग महाराणा प्रताप तथा प्रिथीराज

विषयक है। कहते हैं कि जब चम्पादे को पता लगा कि प्रिथीराज ने प्रताप का पक्ष लेकर अकबर को अप्रसन्न कर दिया है, तो उसने यह दूहा लिख भेजा—

पति जिद की पतिसाह सूँ, यहै सुणी म्हैं आज।
कहँ पातल, अकबर कहाँ, करियो बड़ो अकाज॥

(हे पति, मैंने सुना है कि आपने बादशाह से जिद ठान ली है। कहाँ प्रताप और कहाँ अकबर, दोनों में कोई समानता ही नहीं है, आपने यह बड़ा अकार्य किया है।)

इस पर प्रिथीराज ने ब्रजभाषा में निम्न छन्द रच कर भेजा—

जबतें सुने हैं बैन, तबतें न मोकौ चैन,
पाती पढ़ नेक सो न, विलंब लगावैगो।
लैके जमदूत से, समत्थ राजपूत आज,
आगरे में आठों याम, ऊधम मचावैगो॥
कहैं प्रिथिराज प्रिया, नेकु उर धीर धरो,
चिरजीवी राना सो मलेच्छन भगावैगो॥
मन को मरद मानी प्रबल प्रतापसिंह,
बब्बर ज्यो तड़प अकब्बर पै आवैगो॥

एक और जनश्रुति के अनुसार प्रिथीराज का एक विवाह महाराणा उदय सिंह की पुत्री से भी हुआ था। कुछ विद्वान् उसे महाराणा की पुत्री न मानकर उनके पुत्र शक्तिसिंह की पुत्री बताते हैं। इसका नाम 'किरणाँदे' अथवा 'किरणवती' बताया जाता है। मेवाड़ के इतिहासकार तो इस विषय में मौन हैं पर प्रिथीराज के भाई महाराजा रायसिंह का विवाह उदयसिंह की पुत्री 'जसमादे' के साथ चित्तौड़ में सम्पन्न हुआ था। प्रिथीराज के ही एक और बड़े भाई रामसिंह का विवाह भी राणा की पुत्री 'आँबा' के साथ हुआ था। इन दोनों पुष्ट प्रमाणों के आधार पर यह माना जा सकता है कि प्रिथीराज का विवाह भी वहाँ हुआ हो। तत्कालीन सम्पन्न राजपूत कुलों में एकाधिक विवाह की प्रथा रहने से यह सम्भव भी माना जा सकता है। किरणवती के जिस प्रसंग को लेकर प्राचीन तथा अर्वाचीन कवियों ने अनेक रचनाएँ की हैं, वह अकबर के चरित्र से सम्बन्धित है। कर्नल टॉड ने भी अपने इतिहास-ग्रंथ में इसका वर्णन किया है।

एक बार अकबर ने नवरोज के जश्न में लगे मीना बाजार में प्रिथीराज की पत्नी 'किरणाँदे' को देखा तो वह उसके रूप-लावण्य पर आसक्त हो गया। उसने उसके शीलभंग की चेष्टा की तो वह क्षत्राणी कटार निकालकर उसकी छाती पर चढ़ बैठी, जिससे उसे क्षमा-याचना करनी पड़ी। ऐसा भी कहा जाता है कि इस घटना की जानकारी प्रिथीराज को भी मिल गई थी और उन्होंने

राजबाई नामक चारणी देवी को स्मरण किया था। उस देवी ने सिंह का रूप धारण कर उस अवसर पर अकबर को भयभीत किया था। राजबाई से प्रिथीराज के मिलने की घटना एल० पी० तेस्सितोरि ने इस प्रकार बताई है—"एक बार अकबर ने अच्छी नस्ल के घोड़े खरीदने के लिए प्रिथीराज को गुजरात भेजा। घोड़े खरीदकर वापस आते समय वे एक ऐसे गाँव में रुके, जहाँ घोड़ों को पिलाने के लिए दूध नहीं मिल पाया। पर घोड़ों के सौदागर को दिए हुए वचन के अनुसार घोड़ों को आगरा पहुँचने तक दूध पिलाकर ही रखना था। इस असमंजस के समय राजबाई नामक एक चारणी कन्या उन्हें मिली, जिसने अपनी एक गाय को दुहकर ही इतना दूध निकाल दिया, जो सभी घोड़ों के पीने के लिए रास्ते-भर तक पर्याप्त था। इस चमत्कार को देखकर प्रिथीराज उसके पाँवों पर गिर पड़े और उससे संकट के समय मदद करने का वचन लिया। कहते हैं कि जब प्रिथीराज आगरा के निकट जा रहे थे तो मार्ग में उनकी पत्नी किरणाँदे मिल गई। उसे अकबर ने विशेष पत्र भेजकर बुलवाया था। वह उसके रूप-लावण्य की प्रशंसा सुन चुका था। और उसका इरादा नेक नहीं था। प्रिथीराज ने उस अवसर पर राजबाई को स्मरण किया और उस देवी ने सिंहनी का रूप धारण कर अकबर को भयत्रस्त किया। कहते हैं कि तभी से नवरोज के जश्न में राजपूत सरदारों की स्त्रियों को नहीं बुलाने का निश्चय किया गया।" जैसलमेर की ख्यात में लिखा है कि रावल भीम भाटी ने यह कुप्रथा तुड़वाई। इस प्रसंग का एक दूहा प्रिथीराज ने भी भीम के लिए कहा था, जो इस प्रकार है—

भीम न भेटी भाटियाँ, नवरोजे नारीह।
दूजा राजा सोभला, कर मेलै दारीह॥

इस घटना को अनेक लोगों ने अनेक ढंग से लिखा है। ख्यात लेखक दयालदास की मान्यता है कि प्रिथीराज द्वारिका की यात्रा से लौटते समय 'चिड़ारवा' नामक गाँव में रुके थे और वहीं उन्होंने राजबाई के दर्शन किए थे। उनकी भक्ति से प्रसन्न होकर राजबाई ने सहायता का वचन दिया था। दयालदास ने वह गीत भी दिया है, जिसे रचकर प्रिथीराज ने राजबाई को आहूत किया था। उसकी प्रारम्भिक कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

आई, आवजे, ज्यूँ व्रन वाहर आवाजै, देवी साद सुमरियाँ दीजै।
बळ तज कवण पुकारूँ बीजै, काछराय मो ऊपर कीजै॥

(हे आई—करणी—जिस प्रकार तू याद करनेवाले चारणों की पुकार पर सहायता के लिए आती रही है, वैसे ही मेरी पुकार पर भी आ। तुम्हें छोड़कर मैं दूसरे किसको पुकारूँ! हे देवी, मेरी सहायता कर!)

इस प्रकार की करुण पुकार पर देवी ने प्रिथीराज की सहायता की थी,

जिसकी साक्षी की दो पंक्तियाँ प्रिथीराज की कही हुई यों वताई जाती हैं—

केथ बयानो आगरो, चिड़ारवो स केथ।
राव सुणंतां राजई, तैं अणबो (?) तेथ॥

(कहाँ तो बयाना और आगरा तथा कहाँ चिड़ारवो गाँव! किन्तु पुकार सुनते ही राजवाई देवी तुरन्त उपस्थित हुई।)

प्रिथीराज की दो पुत्रियों की जानकारी अद्यावधि ज्ञात हुई है। मुंशी सोहन-लाल कायस्थ तथा कुँवर कन्हैयाजूदेव के इतिहासों के अनुसार, इनकी एक पुत्री का विवाह सिरोही के राव सुरताण देवड़ा के साथ हुआ था। ख्यातों के अनुसार यह घटना इस प्रकार घटित हुई। बीकानेर राजवंश की बाई 'पुहपावती' का विवाह सिरोही में हुआ था। देवड़ों ने इस वाई को मार डाला था, जिससे दोनों कुलों में वैमनस्य हो गया। अकबर ने रायसिंह को सिरोही पर आक्रमण करने के लिए भेजा, तब रायसिंह सुरताण को पकड़कर अकबर के पास ले आने में समर्थ हुए। कहा जाता है, इसी प्रसंग में सुरताण को बीकानेर में नजरबन्द रखा गया। 'दूदा' नामक चारण ने रायसिंह की सिरोही-विजय पर काव्य रचकर सुनाया तो उन्होंने प्रसन्न होकर दूदा के माँगने पर सुरताण को मुक्त ही नहीं कर दिया वल्कि उसका विवाह भी अपने भाई प्रिथीराज की पुत्री से कर दिया। इस पुत्री का नाम ख्यातकार ने नहीं दिया है।

प्रिथीराज की एक और पुत्री का नाम रुक्मावती था, जिसका विवाह कछवाहा नारायणदास खंगारोत के साथ हुआ था। नारायणदास जयपुर ज़िले के 'नराणा' नामक प्राचीन ऐतिहासिक स्थान के स्वामी थे, जो उनके पिता खंगार को अकबर ने प्रदान किया था। रुक्मावती संवत् १६४२ में नारायणदास की मृत्यु पर सती हुई थी और उसकी छत्री 'नराणा' में वताई जाती है।

वीकानेर-वास

प्रिथीराज के जीवन से सम्बन्धित बहुत कम घटनाएँ ही प्रामाणिक रूप से ज्ञात हैं। 'दलपतविलास' नामक एक समकालीन राजस्थानी 'ख्यात' में उनके वीकानेर-वास के समय की कुछ जानकारी निम्न प्रकार दी है:

"सुरताण, प्रिथीराज जी आदि सभी ठाकुर कल्याणपुर में एकत्रित हुए। वहाँ वे पाँच दिन रहे। उन्होंने चौगान का खेल खेला।"····"रामसिंह जी और प्रिथीराजजी ने 'बीजा' (देवड़ा) के यहाँ भोजन किया। तब राजाजी (रायसिंहजी) ने बुरा माना।"····"(राठौड़ 'अमरा' के साथ महाराजकुमार 'दलपत' की मुठभेड़ हुई, जिसमें) प्रिथीराजजी के दो राजपूत काम आये।"····"सिरोही से राजाजी (रायसिंहजी) से रूठकर सुरताण तथा प्रिथीराज घर आये। राणाजी की लड़की, रामसिंहजी की वहू 'आँवा' के मरने पर रामसिंहजी को वैराग्य हो आया। जिससे

दाढ़ी सँवारना भी बन्द कर दिया। तब सुरताण और प्रिथीराज शोक प्रकट करने गए। उस समय उन्होंने कहा कि हमें भी गाड़ियाँ जुताकर साथ ले आओ, क्योंकि कुँवर (दलपतसिंह) निकलने नहीं देते। इस पर रामसिंहजी ने कहा कि आप लोग ज्यादती करते हैं, इसलिए मैं नहीं चलता। खुद ही आ जाओ। उनके द्वारा ज्यादती नहीं करने का विश्वास दिलाये जाने पर रामसिंहजी गए और गाड़ियाँ जुताकर उन्हें ले आए। तब प्रिथीराज अपने घर 'बींझासर' गए।"···"तब सुरताण और प्रिथीराज ने जाटों और बनियों से ऊँट-बैल तथा अन्य सवारियाँ छीनीं। और भी जो कुछ मिला, सो छीन लिया। तब रामसिंहजी ने उनसे कहा कि तुम लोग धरती में उजाड़ करते हो सो मुझे तो जाने दो। तब सुरताण की बहू ने कहा कि राम-सिंहजी तो वैरागी हो गए हैं, पर हम तो 'ग्रास' का धर्म नहीं छोड़ेंगे।···कुँवरजी ने सुरताण तथा प्रिथीराज को कहलवाया कि आप लोग गाड़ियाँ बाहर ले जाओ। तब गाड़ियाँ जुताकर 'नवहर' चले गए।···कितने ही दिनों के बाद सुरताण, प्रिथीराज, अमरा आदि ठाकुरों ने जाट, जोइयों आदि का भटनेर का साथ इकट्ठा कर देश को लूटा। फिर देखा कि यदि और उजाड़ करेंगे तो अच्छा नहीं लगेगा। तब बादशाहजी के पास जाकर पुकार की।"

इन सब घटनाओं से जो तथ्य उजागर होते हैं, उनके अनुसार ये जानकारियाँ मिलती हैं कि "प्रिथीराज उस समय 'बींझासर' नामक गाँव में रहते थे। उनका तथा उनके अन्य सहोदर रामसिंह तथा सुरताण का महाराजा रायसिंह से मन-मुटाव था। वे अपने भाइयों के साथ बीकानेर की धरती में लूट-खसोट करते थे तथा वे अपने भाइयों के साथ बादशाह की सेवा में उपस्थित हुए थे।" प्रिथीराज राम-सिंहजी को अपना 'गुरु' मानते थे तथा उनसे बड़े प्रभावित थे। उनकी प्रशंसा में उन्होंने एक मरसिया कहा था। 'सुरताण' के साथ उनका सम्बन्ध पर्याप्त लम्बा रहा था। गागरोण में लिखी 'वेलि' की संवत् १६६६ की एक प्रति में 'सुरताण' का नाम मिलता है। सम्भव है, प्रिथीराज को बादशाह द्वारा 'गागरोण' दिये जाने पर सुरताण भी उनके साथ ही रहते हों। 'सुरताण' का एक शिलालेख भी 'गागरोण' में बताया जाता है। जगदीशसिंह गहलोत ने अपने इतिहास में सुरताण को गागरोण का हाक़िम बताया है। प्रिथीराज के वंशज प्रिथीराजौत बीका चुरू जिले के 'ददरेवा' नामक स्थान में रहते थे, यह उल्लेख गौ० ही० ओझा ने किया है। पर बाँकीदास ने अपनी ख्यात में 'हिसार' की 'बावनी' बादशाह द्वारा प्रिथीराज को दी जाने की बात लिखी है और वहीं 'प्रिथीराजोत बीका' परिवारों के रहने की बात लिखी है। चूरू जिला हरियाणा के हिसार जिले से संलग्न होने के कारण ये दोनों ही उल्लेख सत्य प्रतीत होते हैं।

शाही-सेवा

एक कवि के रूप में तो अकबर तथा प्रिथीराज के सम्बन्धों की अनेक जन-श्रुतियाँ प्राप्त हैं, पर एक मनसबदार के रूप में प्रिथीराज का उल्लेख नहीं के समान ही है। **'अकबरनामा'** के उल्लेख से गौ० ही० ओझा ने लिखा है कि प्रिथीराज को संवत् १६३८ (सन् १५८१ ई०) में काबुल की ओर भेजा गया था। संवत् १६५३ (सन् १५९६ ई०) में अहमदनगर की लड़ाई में भी वे सम्मिलित हुए थे। काबुल के युद्ध में वीरता प्रदर्शित करने के कारण इन्हें 'गागरोण' की जागीर प्रदान की गई थी। **मुँहता नैणसी की ख्यात** के अनुसार अकबर द्वारा दिये जाने पर प्रिथीराज ने खीचियों को परास्त कर 'गागरोण' पर अधिकार किया था। संवत् १६३० (१५७३ ई०) में प्रिथीराज महाराज रायसिंह के साथ गुजरात के अभियान में भी सम्मिलित हुए थे। बाँकीदास ने अकबर द्वारा 'हिसार की बावनी' इन्हें दी जाने का उल्लेख किया है। स्फुट प्रसंगों के अनुसार इन्हें गुजरात की ओर घोड़े ख़रीदने के लिए भी भेजा गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि ये अकबर के समय में कोई प्रभावशाली पद पर नहीं रहे। यदि ऐसा होता तो तत्कालीन इति-हासों में ऐसा उल्लेख अवश्य होता। जो कुछ उल्लेख मिलता है, वह नगण्य-सा ही है।

पर जनश्रुतियों के अनुसार प्रिथीराज अकबर के 'नवरत्नों' में से थे, यद्यपि ऐसा मानने का कोई आधार नहीं है। एक लोकोक्ति में यह बात इस प्रकार कही गई है—

पीथल सों मजलिस गई, तानसेन सों राग।
हँसबो रसबो खेलबो, गयो बीरबल साथ॥

अकबर से सम्बन्धित अन्य प्रसंग इस प्रकार हैं—

अकबर को यह ज्ञात था कि प्रिथीराज ने **'बेलि'** नामक काव्य लिखा है। वे उसकी प्रशंसा भी करते थे। पर एक दिन सायाँ झूला कृत **'रुखमणी हरण'** नामक काव्य सुनने के बाद उन्होंने प्रिथीराज को कहा कि 'साईं बाबा' की 'हरणी' तुमारी 'बेल' को चर गई है।

एक दिन प्रिथीराज को उदास देखकर अकबर ने यह प्रश्न पूछा—

मन उतराधो तन दखण, कहो न कवण विचार।

इस पर प्रिथीराज ने उत्तर दिया—

मन गुणवन्ती मोहियो, तन रूँधौ दरबार॥

और साथ ही, यह दूहा भी कहा—

के सेवइ पग नाथ रा, के सेवइ तट गन्ध।
प्रथु सेवइ चंपाकळी, सदळ, सरूप, सगंध॥

(अकबर ने पूछा—तुम्हारा मन उत्तर की ओर तथा तन दक्षिण की ओर जा रहा है, कहो, क्या विचार कर रहे हो ? प्रिथीराज ने कहा—मन तो गुणवती भार्या ने मोह लिया है और तन श्रीमान ने रोक रखा है। कोई तो स्वामी की सेवा करते हैं और कोई गंध के उपासक हैं, पर प्रिथीराज तो चंपाकली का सेवन करता है, जो सदल, सुरूप और सुगंध है।)

अकबर ने महाराणा प्रताप से प्राप्त तथाकथित आत्मसमर्पण का पत्र प्रिथीराज को पढ़कर सुनाया तो वे बोले कि यह पत्र जाली है, महाराणा ऐसा नहीं लिख सकते। *यदि आपकी आज्ञा हो तो उन्हें पत्र लिख कर पूछूँ। कहा जाता* है कि प्रिथीराज ने उन्हें निम्नलिखित दूहे लिखकर भेजे थे—

'पातल' जो 'पतसाह', बोलै मुख हूँताँ बयण।
मिहिर पिछम दिस माँह, ऊगै कासपरावउत॥
पटकूँ मूँछाँ पाँण, कै पटकूँ निज तन करद।
दीजै लिख दीवाँण, इण दो मँहली बात इक॥

(प्रताप यदि अपने मुख से 'पातसाह' शब्द का उच्चारण करे तो सूर्य पश्चिम दिशा में उदित हो। हे दीवान, मैं अपनी मूँछों पर गर्व के साथ ताव दूँ, अथवा ग्लानि से अपनी गर्दन पर तलवार का प्रहार करूँ—इन दो बातों में से एक लिख भेजें।)

कहते हैं कि महाराणा प्रताप ने उक्त पत्र के पहुँचने पर निम्नलिखित दूहे उत्तर में लिखकर भेजे—

तुरक कहासी मुख पतै, इण तन सूँ इकलंग।
ऊगै ज्याँही ऊगसी, प्राची बीच पतंग॥
खुशी हूँत पीथल कमध, पटको मूँछाँ पाँण।
पछटण है जेतै पतो, कलमाँ सिर केबाण॥
सांग मूँड सहसी सको, सम जस जहर सवाद।
भड़ पीथल जीतो भलाँ, बैण तुरक सूँ वाद॥

(प्रताप के मुख से निरन्तर 'तुरक' शब्द ही निकलेगा, पातसाह नहीं। सूर्य सदा की तरह पूर्व में ही उगता रहेगा। हे पीथल राठौड़, तब तक खुशी से मूँछों पर ताव दो, जब तक प्रताप कलमा पढ़नेवालों के सिर पर तलवार का प्रहार करने को मौजूद है। यशोकामना को विषवत् समझनेवाला प्रताप अपने सिर पर सांगों के प्रहार सहेगा। हे वीर पीथल, भले ही तुर्क से विवाद में विजयी बनो।)

अकबर को जब यह पत्र पढ़वाया गया तो उसे स्वभावतः बड़ी निराशा हुई।

प्रिथीराज के एक भाई अमरसिंह विद्रोही बनकर बादशाही ख़ज़ाना लूटा करते थे। ये बड़े वीर थे पर अफ़ीम का सेवन अधिक करते थे। इन्हें सोते से जगानेवाले को ये 'कटारी' के वार से मार डालते थे, इसलिए जगाने का साहस किसी में भी नहीं होता था। एक बार जब अरब खाँ नामक सेनापति ने इन पर

आक्रमण किया तो ये सोये हुए थे। उस संकट की अवस्था में 'पद्मा' नामक चारणी ने एक 'गीत' बोलकर इन्हें जगाया था।

पद्मा प्रसिद्ध बारहठ शंकर की वाग्दत्ता थी, पर शंकर ने उसे त्याग दिया था। तब से यह अमरसिंह के अन्तःपुर में रहने लगी थी। भाई-बहन की तरह रहते हुए भी पद्मा अमरसिंह की मृत्यु पर सती हुई थी। इसके पाँवों में सम्भवतः कोई दोष था, इसीलिए 'वाँका पग बाई पदमा रा' लोकोक्ति प्रसिद्ध है। उक्त गीत की कुछ पंक्तियाँ निम्न प्रकार हैं—

सहर लूँटतो सदा तूँ, देस करतो सरद, कहर नर पड़ी थारी कमाई।
उज्यागर झाल खग, जैतहर आभरण, अमर अकबर तणी फौज आई॥

(तू सदा शहरों को लूटता और देश-विजय करता रहा है, आज तुम्हारे उस यश पर वज्रपात हो रहा है। हे जैतसी के पौत्र, वंश के आभूषण, उज्ज्वल यश वाले अमरसिंह, तलवार हाथ में पकड़, अकबर की फ़ौज आ गई है।)

यह गीत सुनकर अमरसिंह सन्नद्ध हुआ और युद्ध में हाथी पर बैठे अरब खाँ तक अपने घोड़े को पहुँचा कर कटार से उसका काम तमाम कर स्वयं भी कट मरा। कर्नल टॉड ने उसकी प्रशंसा में यह वर्णन करते हुए उसे 'उड़ता शेर' कहा है।

जब बादशाह के पास अरब खाँ की विजय का समाचार पहुँचा तो उसने प्रिथीराज को बड़े अभिमान से कहा कि अमरसिंह पकड़ा गया है। इस पर प्रिथीराज ने ज़ोर देकर कहा कि अमरसिंह कभी ज़िन्दा पकड़ा नहीं जा सकता, मारा अवश्य जा सकता है। तब पूरी घटना की जानकारी होने पर अकबर ने उस वीर की तारीफ़ की और प्रिथीराज को भी ऐसे भरोसे की दाद दी।

कहा जाता है कि एक बार अकबर ने प्रिथीराज को पूछा कि तुम्हारी मृत्यु कब होगी। तब प्रिथीराज ने मथुरा में छठे महीने देह त्यागने की बात कही और यह भी कहा कि उस समय एक सफ़ेद कौआ आयेगा। इस पर अकबर ने उन्हें अटक जैसे दूरस्थ प्रदेश में भेज दिया था। प्रिथीराज अपना अन्त समय निकट आया देखकर ऊँट पर सवार होकर इतनी शीघ्रता से चले कि निर्धारित समय पर मथुरा पहुँच गए। इधर आगरा में एक भील चकवा-चकवी के जोड़े को पिंजरे में बन्द कर शहर में बेचने लाया तो लोगों ने इस अद्‌भुत जोड़े को दरबार में प्रस्तुत किया। अकबर इस आश्चर्य को देखकर चकित रह गया। तब ख़ानखाना ने यह अर्द्धाली कही—

सज्जन वारूँ कोड़धा, या दुर्जन की भेंट।

पर प्रयास करने पर भी ख़ानखाना दूसरी अर्द्धाली नहीं रच सके। तब अकबर ने उसे पूरा करने के लिए प्रिथीराज के पास आदमी भेजा। प्रिथीराज ने उसे इस प्रकार पूरा किया—

रजनी का मेळा किया, बेहका अंछर मेट॥

[करोड़ों सज्जनों को इस दुर्जन निर्दयी (बहेलिये) की भेंट कर दूँ, जिसने विधाता के लिखे लेख को मिटाकर (कि चकवे-चकवी का मिलन रात्रि में नहीं होगा) रात में भी इनका मिलन करा दिया।]

यह पादपूर्ति करने के उपरान्त मथुरा में विश्रांत घाट पर ही प्रिथीराज ने प्राण त्याग दिया और एक सफ़ेद कौआ भी वहाँ आया। ये सब बातें अकबर के पास पहुँचीं तो उसे प्रिथीराज की मृत्यु का बड़ा दु:ख हुआ और 'पीथल सों मजलिस गई' वाला दूहा उसके मुख से निकल पड़ा।

ये तथा अन्य ऐसी ही किंवदंतियों में कोई ऐतिहासिकता नहीं समझनी चाहिए। ये वैसी ही कपोलकल्पित हैं, जैसे बीरबल-अकबर के बाज़ारू किस्से। पर इनसे, प्रिथीराज की जो छाप जनमानस पर पड़ी थी, उसका पता अवश्य लगता है।

भक्ति-भावना

प्रिथीराज एक कुलीन क्षत्रिय थे, इसलिए वीरत्व और वदान्यता तो उनके स्वाभाविक गुण थे ही, पर उनके काव्य की प्रमुख प्रेरक शक्ति उनकी भक्ति-भावना थी। एक सुप्रसिद्ध भक्त के रूप में उनकी मान्यता उस समय भी थी। करणी माता तथा लक्ष्मीनाथ उनके कुल के इष्ट देवी-देवता थे, जिनमें प्रिथीराज की भरपूर श्रद्धा-भक्ति थी। पर कृष्ण के प्रति उनका समर्पण सर्वोपरि था। उनका सुप्रसिद्ध ग्रंथ **'क्रिसन रुकमणी री वेलि'** तथा **'वसदेरावउत रा दूहा'** नामक रचना इस तथ्य की साक्षी हैं। दशरथदेवउत, भागीरथी गंगा तथा देवी विषयक रचनाएँ भी उन्होंने की थीं। उनकी भक्ति-भावना से सम्बन्धित कतिपय प्रसंग निम्न प्रकार हैं—

नाभादास ने अपने **'भक्तमाल'** नामक ग्रन्थ में इन्हें कविराज और भक्तराज बताते हुए इनके काव्य और भक्ति की प्रशंसा की है—

'सवैया गीत श्लोक वेलि, दोहा गुन नवरस।
पिंगल काव्य प्रमान, विविध विधि गायो हरजस।
पर दुख विदुख शलाघ्य, वचन रचना जु विचारै।
अरथ कवित्त निरमोल, सबै सारंग उर धारै।
रुक्मिनी लता वरनन अनूप, वागीश वदन कल्याण सुव।
नरदेव उभैभाषा निपुन, पृथ्वीराज कविराज हुव॥'

भक्तमाल की **'भक्तिरस बोधिनी'** टीका करते हुए प्रियादास (संवत् १७६९) ने प्रिथीराज की भक्ति के कुछ चामत्कारिक प्रसंग दिए हैं—

१. इन्होंने भक्ति में तल्लीन होने के कारण एक बार अपनी रानी को भी नहीं पहचाना।

२. एक बार जब प्रिथीराज प्रवास में थे तो मानसी पूजा करते समय इष्ट देव 'लक्ष्मीनाथ' को मंदिर में नहीं देखा। तीन दिन बाद वे पुनः मंदिर में दिखाई दिए। जब इसका कारण जानने के लिए बीकानेर पत्र लिखा गया तो उत्तर आया कि मूर्ति तीन दिनों तक मंदिर से बाहर ही विराजती रही।

'भक्तमाल' की ही एक और टीका **'हरिभक्ति प्रकाशिका'** में लिखा है कि एक बार प्रिथीराज अपनी सेना के साथ किसी भयंकर वन में पहुँच गए जहाँ खाद्य पदार्थ नहीं मिलने से संकट उत्पन्न हो गया। कहते हैं कि वहाँ उसी समय एक नगर नजर आया, जिसमें सभी आवश्यक वस्तुएँ मिल गईं और सेना को बड़ी प्रसन्नता हुई।

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में भी प्रिथीराज से सम्बन्धित कुछ प्रसंग हैं। उसमें लिखा है कि 'ये राजस भक्त हैं।' लीला में इनको नाम 'प्रभावती' है। ये श्रुतिरूपा तें प्रकटी हैं तातें उनके भाव रूप हैं।' 'ये बचपन से ही साधु-संगति करते थे। एक बार मथुरा की यात्रा में आए तो चौबे लोगों से पूछा कि यहाँ कोई महापुरुष हो तो बताओ जिनसे मिला जाए। तब चौबों ने विट्ठलनाथजी का नाम बताया। तब प्रिथीराज ठकुरानी घाट पर गए, जहाँ विट्ठलनाथजी के तेजस्वी व्यक्तित्व के दर्शन किए और उनसे नाम सुनकर व्रतादि कर आशीर्वाद प्राप्त किया।

दयालदास कृत **'आर्याख्यान कल्पद्रुम'** में प्रिथीराज के तीन गुरुओं का दूहा इस प्रकार दिया है—

दीक्षा गुरु विठलेश है, गुरु गदाधर व्यास।
चतराई गुरु रामसिंह, तीनूं गुरु पृथुदास॥

ऐसा प्रतीत होता है कि गदाधर व्यास से प्रिथीराज ने विद्याध्ययन किया था।

गौ० ही० ओझा ने प्रिथीराज की भक्ति की चर्चा करते हुए लिखा है कि प्रिथीराज जब 'वेलि' की रचना कर द्वारिका में श्रीकृष्ण के चरणों में उसे अर्पित करने जा रहे थे तो द्वारिकानाथ ने स्वयं एक वैश्य के रूप में मार्ग में उनसे 'वेलि' का पाठ सुना था। इस प्रसंग में यह भी कहा जाता है कि 'वेलि' का पाठ करने के बाद प्रिथीराज उक्त ग्रंथ को वैश्य के डेरे में ही छोड़ आए थे। तब मार्ग में आगे जाने पर याद आया तो एक आदमी को लाने भेजा। पर वहाँ न तो किसी डेरे का निशान देखा और न वैश्य को ही पाया। एक तुलसी के पौधे के नीचे 'वेलि' रखी हुई अवश्य मिली। इस पर प्रिथीराज को विश्वास हुआ कि द्वारिकानाथ ने ही वैश्य रूप में उनसे 'वेलि' का पाठ सुना था। इस प्रसंग का एक संस्कृत छन्द कवि श्रीसार द्वारा रचित इस प्रकार प्राप्त है—

पृथ्वीराजावतारेण भक्तानुग्रह काम्यया ।
स्वयं नारायणः स्वस्य जगाद चरितं हितम् ।

(अर्थात् स्वयं नारायण ने ही पृथ्वीराज रूप में अवतार लेकर भक्तों पर अनुकम्पा कर स्वयं अपना चरित काव्य में रचा ।)

अग्रज के प्रति श्रद्धा-भाव

प्रिथीराज अपने अग्रज रामसिंह के प्रति कितनी अगाध श्रद्धा रखते थे, यह तथ्य उनके द्वारा कहे गए कतिपय प्रशंसात्मक छन्दों से उद्‌घाटित होता है । रामसिंह बड़े ज्ञानी, शांत स्वभाव के, वीर, धीर, नीतिज्ञ और अन्य अनेक मानवीय गुणों से युक्त थे । प्रिथीराजकृत निम्नलिखित छप्पय और दूहा इसके साक्षी हैं—

एक फरसराम सुतन जमदगन नरेसर।
एक दसरथ सुत सुतो सारंग धनुषधर।
इक वसुदे सुत समसुतो हळ धरण महाबळ।
एत कलावत राम, खड़गधारी खांडणबाळ।
एक-एक हुवा एक-एक जुग, क्रत त्रेता द्वापर कळि।
हुवौ न हुईसै पाँचमों, चार राम रवि चक्क तळि ॥

(जमदग्नि के पुत्र परशुराम, दशरथ के पुत्र शार्ङ्गपाणि राम, वसुदेव पुत्रवत् हलधर बलराम और कल्याणमल के पुत्र खड्गधारी, पर बल भंजक रामसिंह— ये चारों सतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग में क्रमशः एक-एक ही हुए । जहाँ तक सूर्य का प्रकाश द्योतित है, वहाँ तक ब्रह्मांड में पाँचवाँ न तो हुआ है और न होगा ।)

मन सुकदेव, तन कामदेव, कळि अरजुण, दतिक्रन, बळी वखाणिस केहा ।
वाच जुजठळ, तेज रवि सम, राम कल्याण सुतन, अै दूहइ जेहा ॥

(जो ज्ञान में शुकदेव, रूप में कामदेव, शरसंधान में अर्जुन, दान में कर्ण, वाचा में युधिष्ठिर तथा तेज में सूर्य के समान हैं, वह कल्याणमल के सुपुत्र रामसिंह दूहों में इस (चेटियाळा) दूहे के समान श्रेष्ठ हैं ।)

अन्य प्रसंगों में भी रामसिंह के प्रति प्रिथीराज का श्रद्धा-भाव प्रकट होता है । सम्भवतः प्रिथीराज के जीवन में रामसिंह का आदर्श चरित्र एक प्रबल प्रेरक शक्ति के रूप में बना रहा ।

साहित्यिक संस्मरण

जब प्रिथीराज कृत 'वेलि' का यश चारों ओर फैलने लगा तो तत्कालीन चारण कवियों की अनेकविध प्रतिक्रियाएँ सामने आईं । इनमें **माधोदास और**

गाडण केसोदास ने वेलि की प्रशंसा की तथा **दुरसा आढ़ा और माला सांदू** ने उसको प्रिथीराज की कृति मानने में सन्देह किया। इस पर प्रिथीराज ने माधोदास और केसोदास की प्रशंसा में तथा दुरसा और माला की निन्दा में निम्नांकित दूहे कहे—

चूंडै चत्रभुज सेवियौ, तत फळ लागो तास।
चारण जीवो चार जुग, मरो न माधोदास॥
केसो गोरखनाथ कवि, चेलो कियो चकार।
सिध्व रूपी रहता सवद, गाडण गुण भंडार॥
वाई वारै खालिया, कोई कहीं न जाय।
अूदै मालो अूपनो, मेहै दुरसो थाय॥

(चूंडा चारण ने चतुर्भुज विष्णु की आराधना की, जिसके फलस्वरूप उसे माधोदास नामक सुपुत्र की प्राप्ति हुई। माधोदास चारों युगों तक जीवित रह कर अमर बने! गोरखनाथ ने केसोदास को शिष्य बना लिया। उसके शब्द सिद्ध हैं, वह 'गाडण' गुणों का भण्डार है। ऊदा सांदू का माला और मेहा आढा का दुरसा दोनों स्वत्वहीन और दान के लिए कंठ में कटार खाने वाले हैं।)

गाडण रामसिंह ने इनकी प्रशंसा की थी। दुरसा आढा के नाम से **'वेलि'** की प्रशंसा में लिखा जो प्रसिद्ध गीत बताया जाता है, वही गीत एक प्राचीन हस्तप्रति में गाडण रामसिंह के नाम से भी लिखा मिला है। पर श्रीसार कृत वेलि की संस्कृत टीका में यही पद्य दुरसा आढ़ा के नाम से मिलता बताया। अगरचन्द नाहटा ने यह बात कहते हुए टीका का जो अंश छापा है, वह उस प्रसिद्ध गीत से सम्बन्धित न होकर एक अन्य छन्द की ही टीका करता है। गाडण रामसिंह की प्रशंसा करते हुए प्रिथीराज ने अन्य दो चारणों की भी प्रशंसा एक दूहे में की है, जो निम्न प्रकार है—

गुण पूरा गुरु सूगुरा, सायर सूर सुभट्ट।
रामो रतनो खेतसी, गाडण गाँधी हट्ट॥

(गुणों से भरपूर, किए हुए उपकार को माननेवाले, चतुर, शूरवीर योद्धा, गाडण जाति के रामा, रतना तथा खेतसी—गाडण वंश रूपी गाँधी की हाट के सुगन्ध प्रसारक—यश का विस्तार करनेवाले हैं।)

'वेलि' विषयक अन्य अनेक प्रशस्तियों का उल्लेख वेलि की चर्चा के प्रसंग में किया जाएगा।

महाराणा प्रताप का प्रसंग

महाराणा प्रताप से हुए पत्र-व्यवहार की चर्चा हम कर चुके हैं। प्रताप की वीरता से प्रभावित होकर प्रिथीराज ने उनकी प्रशंसा में गीतों तथा दूहों की

रचना की थी। प्रिथीराज की स्वातन्त्र्य-भावना तथा वीरों की प्रशंसा की राजस्थानी परम्परा इन रचनाओं में स्पष्टत: उभर कर सामने आई है।

बहुविध ज्ञान

प्रिथीराज एक वीर, भक्त और सशक्त कवि के साथ ही अनेक विषयों के ज्ञाता भी थे। ज्योतिष, वैद्यक, संगीत, छन्द-शास्त्र, व्याकरण, काव्य-शास्त्र, पुराण और लोक-व्यवहार की इनकी जानकारी 'वेलि' में स्थान-स्थान पर देखी जा सकती है, जिनकी व्याख्या यथास्थान की जाएगी। प्रिथीराज के कृतित्व के परिप्रेक्ष्य में भी इनकी चर्चा की जाएगी।

कृति-परिचय

जिस रचना के कारण एक श्रेष्ठ कवि के रूप में प्रिथीराज की ख्याति है, वह 'क्रिसन रुक्मणी री वेलि' नामक काव्य है। इसके अतिरिक्त जो अन्य रचनाएँ उपलब्ध हैं, वे निम्न प्रकार हैं :

१. **वसदेरावउत रा दूहा**
२. **दसरथदेवउत रा दूहा**
३. **भागीरथी (जाह्नवी) रा दूहा**
४. **वल्लभदेवउत (वीठळ) रा दूहा**
५. **देवी स्तुति**
६. **भक्ति तथा अध्यात्म की अन्य रचनाएँ**
७. **यशगीत**
८. **प्रताप-प्रशस्ति**
९. **प्रकीर्णक साहित्य**
१०. **पिंगल/ब्रजभाषा की रचनाएँ**

(१) वसदेरावउत रा दूहा

यह १८३ स्फुट दूहों की रचना है। इसमें कृष्ण-जीवन के नाना प्रसंगों का एक-एक दूहे में वर्णन किया गया है। प्रारम्भ तथा अन्त के अनेक दूहों में कृष्ण-भक्ति की महिमा का बखान भी किया गया है। विष्णु के अवतार-रूप में माने जाने के कारण विष्णु के अनेक अवतारों तथा विरुदकथाओं को भी इस गुणानुवाद में सम्मिलित कर लिया गया है। इनके अन्य नाम 'दशम भागवत रा दूहा', 'ठाकुरजी रा दूहा', 'किसनजी रा दूहा' आदि भी हैं। कृष्ण को राजस्थानी ढंग से 'वसदेरावउत' कहना राजस्थान की सांस्कृतिक विशेषता है। 'कल्याणमलोत' प्रिथीराज द्वारा 'वसदेरावउत' कृष्ण की यह स्तुति इस दृष्टि से बड़ी सारगर्भित है। वास्तव में, ये दूहे न होकर सोरठिया दूहे अथवा सोरठे ही हैं। दूहे की दोनों पंक्तियों में २४ मात्राएँ, अन्त में तुकान्त लघु तथा १३-११, १३-११ के पादांशों पर यति होती है। सोरठे में दूहे के विपरीत ११-१३,

११-१३ पर यति तथा ११ मात्रा वाले पादांशों की ही तुकें मिलती हैं। अन्त में, लघु-गुरु का कोई प्रतिबन्ध नहीं होता।

प्रिथीराज ने दूहे कम ही लिखे हैं। अन्य रचनाएँ प्रायः सोरठों में ही हैं। इन्हें सम्बोधनात्मक ढंग से लिखा गया है। हर सोरठे में **'वसदेरावउत'** अन्त में आता है। ऐसे सोरठों की प्राचीन परम्परा रही है। ऊजळी-जेठवा के सुप्रसिद्ध सोरठे भी इसी शैली के हैं। उनमें भी हर सोरठे के अन्त में 'जेठवा' शब्द आता है—

तावड़ तड़तड़ताँह, थळ साम्हाँ चढ़ताँ थकाँ।
लाधो लड़थड़ताँह, जाड़ी छाया जेठवा॥

सम्बोधन का यह प्रकार भक्त और आराध्य के साथ सीधा तादात्म्य स्थापित करने में सहायक होता है। इसी शैली पर आगे चलकर 'राजिया', 'मोतिया', भैरिया आदि सम्बोधनों के नीति के सोरठे रचे गए थे। आराध्य का गुणानुवाद करते हुए भक्त की करुण पुकार ऐसे सीधे सम्बोधनों से भली प्रकार व्यक्त हुई है—

"तूं आयौ तूँ आद, सब ही दिन भगतां सँगठ।
सिमरीजताँ सहाइ, विलँब न वसदेरावउत॥

(२) दशरथदेवउत रा दूहा

इन्हीं का दूसरा नाम 'रामचन्द्रजी रा दूहा' भी मिलता है। इनकी कुल संख्या ५४ है। इनमें दशरथ पुत्र राम के महान कार्यों की स्तुति की गई है और विष्णु के अवतार के रूप में राम को ही साक्षात् ब्रह्म मानकर समर्पण किया गया है। राम के जीवन की सभी प्रमुख घटनाएँ—जन्म, बाल्यकाल, धनुष-भंग, अहिल्या-उद्धार, लंका पर आक्रमण, रावण वध और विभीषण को राज्य प्रदान—वर्णित करते हुए कवि ने अहिल्या की तरह स्वयं के उद्धार की विनय की है। देश-विदेश में सभी समय, सभी स्थानों पर, राम के ही शरणागत होने की भावना व्यक्त की गई है। राम और कृष्ण में विभेद करते हुए प्रिथीराज ने उन्हीं को समर्पित अपने साहित्य को धन्य समझा है—

प्रभु ताइ किया प्रवीत, जाइ समरपिया सरब नर।
गाह कवित छन्द गीत, दूहा दसरथदेवउत॥

(३) भागीरथी रा दूहा

इस रचना में ८८ दूहे (सोरठे) हैं। इन्हीं के दूसरे नाम **'गंगाजी रा दूहा'** तथा **'जाह्नवी रा दूहा'** भी हैं। समस्त संसार में एक ही ब्रह्म को व्याप्त देखते हुए प्रिथीराज ने भागीरथी और भगवान में कोई अन्तर नहीं समझा है। यह

उच्च कोटि की दार्शनिकता का प्रमाण है—

हुवइ सु नामइ होइ, ब्रह्म सरेसो वास तव।
तू नइ त्रीकम तोइ भेद नहीं भागीरथी ॥

गंगा का पापभंजक माहात्म्य, तीनों भुवनों में व्याप्ति, अवगाहन का प्रताप, मुक्ति-प्रदायिनी महिमा, भवसागर-उद्धारक-परम्परा, जल-पान से पाप-क्षरण, अपराध-क्षमापन, सकल तीर्थ-फल-प्रदान आदि परम्परागत उक्तियाँ इन दूहों का विषय है। शिव की जटाओं से उसका प्रादुर्भाव तथा राजा सगर के साठ हजार पुत्रों के उद्धार की चर्चा भी की गई है। भागीरथी के प्रति भक्त प्रिथीराज का अगाध श्रद्धाभाव अनेक दूहों में प्रकट हुआ है, जिनमें से एक इस प्रकार है—

गंगाजळ गुटकीह, निरणै ही लीधी नहीं।
भव-भव में भटकीह, भूत हुआ भागीरथी ॥

(४) वल्लभदेवउत रा दूहा

आचार्य वल्लभ के पुत्र विट्ठलनाथ प्रिथीराज के दीक्षा गुरु थे। उन्हीं की वन्दना के लिए ये दूहे रचे गए हैं। इस प्रसंग के १२ दूहे इस नाम से उपलब्ध हैं। इन्हें **'वसदेरावउत'** तथा **'दशरथदेवउत'** के दूहों की शैली पर ही रचा गया है। भारतीय भक्ति-संप्रदायों में गुरु की महिमा का अनकेशः बखान मिलता है। गुरु और गोविन्द दोनों के खड़े रहते भी गुरु की ही महिमा को सर्वोपरि मानना गुरु-भक्ति का आदर्श बन गया है। प्रिथीराज ने भी अन्य पूर्वगामी भक्तों की तरह सांसारिक पुरुषों की प्रशस्तियाँ करने की निस्सारता का अनुभव किया था। इसीलिए परमात्म-प्राप्ति का मार्ग प्रदर्शित करनेवाले अध्यात्म गुरु को उन्होंने लोहे को स्वर्ण बनानेवाले पारस की भाँति चामत्कारिक समझकर प्रणाम किया। विट्ठलनाथ ने ही प्रिथीराज को कृष्ण-भक्ति का प्रसाद दिया था, जिसकी साक्षी में कवि ने कहा था—

जिण अम सूं आलोज, दामोदर दरसावियो।
सगळां पायो सोज, वाल्हो वल्लभदेवउत ॥

(५) देवी-स्तुति

भगवती करणी बीकानेर राजवंश की अधिष्ठातृ देवी रही हैं। वैसे 'नागणेची' भी राठौड़ वंश की इष्ट देवी रही है, पर करणी ने राव बीका को राज्य-स्थापना में जो मदद दी तथा राव जैतसी को कामराँ से हुए युद्ध में विजय दिलवाई, उन घटनाओं के प्रति आभार मानते हुए बीकानेर राजवंश में करणी की मान्यता सर्वाधिक रही है। प्रिथीराज राव जैतसी के पोते ही थे और उनके मस्तिष्क में वह घटना ताजी ही रही होगी। इसीलिए यह स्वाभाविक

था कि करणी के प्रति उनकी श्रद्धा भी उच्चस्तरीय रही। प्रिथीराज के जीवन में भी देवी की मदद का प्रसंग आया बताया जाता है और उस समय उन्होंने देवी रूप में अवतरित 'राजबाई' का स्मरण किया था। चारण समाज में देवी रूप में मान्यता प्राप्त करनेवाली कई चारण कन्याएँ हुई हैं, जो व्यापक क्षेत्रों में पूजी गई हैं। प्रिथीराज की भक्ति उस उच्च स्तर पर पहुँच गई थी कि वे समस्त ब्रह्मांड में एक ही शक्ति को संचरित देखते थे। उनके लिए कृष्ण, राम तथा अन्य किसी भी देवता में कोई अन्तर नहीं था। वे गंगा को भी उसी ब्रह्म की प्रतीक मानते थे। इसलिए चारण देवियों में भी उसी चरम शक्ति के दर्शन करना उनके लिए स्वाभाविक था।

देवी-स्तुति विषयक छन्द प्रिथीराज ने अधिक नहीं लिखे। केवल एक ही गीत ज्ञात है, जिसे प्रस्तुत पुस्तक के परिशिष्ट में सम्मिलित किया गया है। यह गीत ही वह पुकार है, जो प्रिथीराज ने संकट के समय की थी। चारण देवियाँ अपने वंश के भक्त कवियों की पुकार पर स्वयं आकर इस प्रकार मदद करती रही हैं। ऐसी अनेक घटनाएँ राजस्थानी साहित्य में कही-सुनी जाती हैं। अलवर के कवि रामनाथ कविया को भी कारावास से मुक्त करवाने के लिए देवी कवि की पुकार पर सफेद चील का रूप धारण करके आई थी, ऐसा विश्वास किया जाता है।

(६) भक्ति तथा अध्यात्म की अन्य रचनाएँ

वैसे तो प्रिथीराज का समस्त साहित्य ही भक्ति तथा अध्यात्य से ओत-प्रोत है, पर वेलि तथा कृष्ण-राम-भागीरथी के दूहे और देवी-स्तुति विषयक रचनाओं के अतिरिक्त अन्य अनेक विधाओं में भी प्रिथीराज ने अपने भक्ति विषयक उद्गार प्रकट किए हैं। इनमें निम्नलिखित रचनाएँ सम्मिलित हैं—१. डिंगल गीत, २. छप्पय, ३. आरती, ४. सोहलो, तथा ५. दूहे।

भक्ति तथा अध्यात्म-चिंतन के ज्ञात डिंगल गीतों की संख्या १२ है। पर बहुत सम्भव है कि ये गीत अधिक रहे हों। तत्कालीन राजस्थानी साहित्य में गीतों की रचनाएँ सर्वोपरि थीं। गीतों के अपने आप में एक सम्पूर्ण कृति होने के कारण भी इनका प्रचलन बहुत था। दूहे की तुलना में इसका आकार अधिक विस्तृत और कथ्य भी व्यापक है। अनेक दूहे मिलकर भी एक गीत की तुलना इसलिए नहीं कर पाते कि दूहे का कथ्य अपने आप में पूर्ण होते हुए भी इसके वर्णन की कोई स्वाभाविक परिणति नहीं है। इसके विपरीत गीत आदि से अन्त तक एक गुँथावट में बँधा रहता है और इसके कथ्य की परिणति एवं अन्विति पूर्ण रूप से हो जाती है।

प्रिथीराज के गीत भगवद्-भक्ति विषयक तथा वैराग्य-भावना को व्यक्त

करनेवाले हैं। अपने पिता कल्याणमल की मृत्यु पर परम्परागत रूप से मर-सिया न कहकर उन्होंने जीवन की निस्सारता व्यक्त करनेवाला जो मार्मिक गीत रचा है, वह प्रिथीराज की श्रेष्ठ रचनाओं में गिना जाने योग्य है। इसी भावना से प्रेरित होकर उन्होंने आत्म-समर्पण की जो भावना व्यक्त की है, वह उनके एक अन्य श्रेष्ठ गीत का विषय है। (ये दोनों गीत परिशिष्ट में दिए गए हैं।)

एक गीत में पनिहारी के भाव का समावेश कर कृष्ण-मिलन की बात कही गई है तो एक अन्य में विरहिणी राधा द्वारा किसी पथिक के हाथ कृष्ण के पास संदेश पहुँचाया गया है। एक गीत में इन्द्राणी, रुद्राणी, ब्रह्माणी आदि देवियाँ रुक्मिणी के भाग्य की सराहना कर रही हैं तो दूसरे में एक लाख योनियों का नाश करने और सवा लाख का सृजन करनेवाले त्रैलोक्यपति को नमस्कार किया गया है। इस गीत में परमात्मा को 'जूनानाथ', 'बूढ़ानाथ' तथा 'अनंतमहर' आदि नामों से अभिहित किया गया है—

> असमान कुळह गत माळा उडीयण, रार बिन्है सूरज राकेस।
> यळ मेखळी बणाया एहो, अनंत महर तोनूं आदेस।।

अन्य गीतों में द्रौपदी के चीरहरण के समय कृष्ण द्वारा वस्त्र-पूर्ति का प्रसंग, नानावतारों द्वारा आपद्ग्रस्त भक्तों की सहायता करने के वृत्तांत, राम द्वारा विभीषण पर की गई कृपा तथा ऐसी ही दूसरी बातें कही गई हैं।

'आरती' नामक पद्यों में जगन्नाथ, बदरीनाथ, अयोध्या, मथुरा, हरद्वार, गंगासंगम, रामेश्वर, द्वारिका आदि तीर्थों में वास करनेवाले भगवान के नाना रूपों के लिए उसी परम-पिता का वन्दन किया गया है, जिनकी चर्चा वेद करते हैं, चारण स्तुति करते हैं तथा ब्रह्मा, शारदा आदि सभी जय-जयकार कर रहे हैं। ऐसे ही एक अन्य रूपक में काव्य-रचना का तादात्म्य कृष्ण की छवि से दरसाया गया है। कवित्त को दिव्यासन, पढ़ने की लय को 'चमर', छत्रबंध रचना को 'छत्र', अक्षरों को उज्ज्वल मोती, दूहों को 'दमामा', गाहा को 'मृदंग', पिंगल (छन्द) को भेर-भरह, रूपकबद्ध रचना को 'विरुद' आदि बतलाते हुए सांगरूपक की रचना की गई है। यह ध्यान देने योग्य है कि प्रिथीराज ने अनेक स्थानों पर अपनी साहित्यिक रचनाओं को प्रभु की सेवा में इसी भावना से समर्पित करने की चेष्टा की है।

'सोहलो' नामक रचना में राधा-कृष्ण के दुलहिन और दूलह रूप में घर आने पर यशोदा द्वारा 'बधा' लेने का वर्णन किया गया है। इस 'सोहलो' में लोक-गीतों की शैली में मोतियों से चौक पुराने, सहोदरा द्वारा 'आरता' करने, चंदन का तोरण बँधवाने आदि का वर्णन है।

'छप्पय' नामक रचना में २१ छप्पय छन्द हैं। इनमें भी कृष्ण की भक्ति

की ही चर्चा है। एक छप्पय में कवि यह अनुभव करता है कि वह आज तक ऊजड़ रास्ते पर ही चलता रहा है। कृष्ण-भक्ति को छोड़कर व्यर्थ भटकता रहा है। इसी भाव को आगे बढ़ाते हुए उसे अनेक दृष्टान्तों से स्पष्ट करने के लिए अन्य कई छन्द भी लिखे हैं। आगे चलकर अनेक भक्तों के प्रसंगों का उल्लेख करते हुए उन पर हुई भगवद्-कृपा की महिमा बखानी गई है। और इन्हीं वर्णनों के साथ कवि एक बार पुनः दार्शनिक चिन्तन की गहराइयों में उतर कर व्यक्त से अव्यक्त की ओर बढ़ जाता है। वह उस रहस्य-लोक की झाँकियाँ देखने लगता है, जिन्हें अनदेखे सपनों की तरह ही भावातीत अवस्था में क्षण-भर के लिए देखकर धन्य हुआ जाता है। यही सौभाग्य प्रिथीराज को मिला है। उनका भावुक मन उस परमात्म-ज्ञान की स्फुरणा को पकड़ने के लिए प्रेरित-सा प्रतीत होता है। ऐसे कुछ उत्कृष्ट कथन इस प्रकार हैं।

नाद मूळ थड़ वेद, डाळ अठारह पुराणह।
सासत साख प्रसाख, पान सुवचन प्रमाणह।
सीतळ अति सुगन्ध, गरुव गम्भीर गमागमि।
अमर असुर अनि अनि, भगत बीटियो भुवंगमि।
वासिया भुवण चउदह विसन, वास जास कीरति वळी।
तिल्ल-तिल्ल वार हू हरि तणा, बावन चन्दण ना वळी॥

यह विराट कल्पना वेदों के पुरुष सूक्त की-सी सर्व व्यापकता और प्रभावोत्पादकता लिये हुए अखिल ब्रह्मांड के कण-कण में रमी हुई उसी आद्या-शक्ति की ओर संकेत है।

दूहे—**हरिसुमरण उपदेश** शीर्षक से प्राप्त इन ११ दूहों में हरि-भक्ति का माहात्म्य ही वर्णित किया गया है। अन्यत्र प्रकट किए गए एक भाव में कवि कहता है कि भगवद्-स्तुति को छोड़कर जो लोग मानवी जनों की प्रशस्तियाँ करते हैं, वे गधों के गलों में रत्नमालाएँ डालते हैं—

प्रथि हरि तज गुण मानवां, जोड़ै किया जतन्न।
जाणि चित्तभ्रम बंधिया, गळ गादहां रतन्न॥

यही भाव प्रकारान्तर से इस प्रकार प्रकट किया गया है—

प्रिथु जु मैं अवरां पुणै, गुण छन्दै गोपाळ।
माणक गुंथ मोताहळां, मड गळि घाती माळ॥
हरि परिहरि करि अवर सूं, आस विलम्बी आणि।
तरु छन्डे लागी लता, पत्थर चै गळ जाणि॥
वीथी हरि वीसारि कर, अनि संभरै अयाण।
रति छन्डे पति आपणे, जारि विलूंधी जाण॥

एक अनन्य भक्त की तरह प्रिथीराज इन दूहों में और सभी का अवलम्ब

छोड़कर गोविन्द का ही आश्रय लेने की सीख देते हैं, क्योंकि जैसे तूँबी के सहारे ही पत्थर पानी पर तैर सकता है वैसे ही हरिनाम-सुमरण से ही भवसागर से पार उतरा जा सकता है।

(७) यशगीत

'साख री कविता' के पारम्परिक नाम से जाने गए ऐसे डिंगल-गीत राजस्थानी साहित्य में हज़ारों की संख्या में सरलता से मिल सकते हैं। 'दूहों' के बाद सम्भवतः यही एक प्रमुख विधा है, जिसे प्राचीन डिंगल कवियों ने अपनाया। कोई विरला ही ऐसा कवि रहा होगा जिसने दूहे और गीत नहीं लिखे हों। गीतों के प्रधान विषय वीरों के विशिष्ट कृत्य ही रहते आए हैं। मृत्यू-परान्त लिखे गए 'मरसिया' गीत भी एक प्रकार से प्रशस्तिपरक ही हैं। निन्दात्मक गीत भी लिखे गए हैं, पर उनकी संख्या दूसरी प्रकार के गीतों की तुलना में नगण्य है। प्रिथीराज द्वारा रचे गए प्रशस्तिपरक गीतों की संख्या अनु-मानतः चालीस है। बहुत सम्भव है कि भविष्य में और खोज होने पर यह संख्या बढ़ जाए। गीतकार का नाम गीतों में देने की परम्परा नहीं रहने से निश्चयात्मक रूप से यह कहना बड़ा कठिन हो जाता है कि अमुक गीत अमुक कवि का कहा हुआ है। विद्वानों की मान्यता और हस्तलिखित ग्रन्थों के उल्लेख ही एकमात्र प्रमाण हैं जो कभी-कभी असत्य भी सिद्ध हो जाते हैं। प्रिथीराज द्वारा रचे गए इन गीतों में कुछ की पहचान तो सरलता से की जा सकती है, क्योंकि ये गीत जिन व्यक्तियों के लिए कहे गए हैं, वे उनके समकालीन और निकट के लोग रहे हैं।

महाराजा रायसिंह, महाराजकुमार दलपतसिंह तथा बड़े भाई रामसिंह सम्बन्धी गीत स्पष्ट ही प्रिथीराज द्वारा रचे-समझे जा सकते हैं। महाराणा प्रताप की वीरता के भी वे कायल रहे थे। प्रताप की प्रशंसा में दूहे भी उन्होंने रचे थे। वैसे भी मेवाड़ के राजवंश से बीकानेर राजवंश के वैवाहिक सम्बन्ध रहे थे। रायसिंह तथा रामसिंह दोनों ही मेवाड़ की राजकुमारियों से विवाहे थे। प्रिथीराज का स्वयं का भी एक विवाह वहाँ हुआ माना जाता है। इसी प्रकार, खंगार जगमालोत की प्रशंसा का भी गीत उनके एक वैवाहिक सम्बन्ध का स्मरण कराता है। खंगार के पुत्र नारायणदास से प्रिथीराज की पुत्री का विवाह हुआ था। पर इन सम्बन्धों की पहचान का यह आशय नहीं है कि ऐसे सम्बन्ध गीत-रचना के लिए प्रेरक रहे थे। इनके माध्यम से रचना की सम्भावना की ही बात की जा सकती है। वास्तव में, किसी भी सच्चे कवि के लिए ऐसी शंका करना भी उचित नहीं होगा, और फिर प्रिथीराज जैसे बेलाग व्यक्ति के लिए तो इस प्रकार की सम्भावना होने का ही कोई प्रश्न नहीं उठता।

प्रिथीराज ने जिन अन्य वीरों के गीत लिखे हैं, उनमें प्रमुख रूप से कल्लो रायमलोत, जगमाल सिसोदियो, रायसिंह देवड़ो, सादुल पुँवार, सेरखान, सारंगदे माँडणोत, फहीम पूंजावत, वैरसल प्रिथीराजोत, मोटो मोहिल, साँदू रामो, जसो चारण, गोपालदास माँडणोत, पाहू भीमो, मेघो मोहिल, रामो मानमलोत, अचलदास बलभद्रोत, भोपत चहुवाण, मण्डलो अचलदास, दोलतखान नारायण दासोत, जोध सोलंकी, ऊदो मेहावत, सेखो सूजावत तथा रतनसी के नाम गिनाए जा सकते हैं। सभी गीत परम्परागत शैली में और प्रायः प्रयुक्त उक्तियों के माध्यम से कहे गए हैं। प्रिथीराज के कवित्व की कोई विशेष छाप इनमें दृष्टि-गोचर नहीं होती। प्रिथीराज को विशेष प्रिय रूपकबद्ध वर्णनों की छटा इनमें सहज ही पहिचानी जा सकती है। जगमाल सिसोदिया के गीत में हंस का रूपक देखने योग्य बन पड़ा है—

वळावळी गोळावहै वीर हक वापरी, चांच खग वाहतो काढतो चाल।
देवड़ा तणी धड़ मांहि सीसोदियो, माल्हियो मानसर हंस जगमाल ॥१॥
चांच तरवारियां रतन सिर चुगंतो, कमळि पग दीयंतो धड़ां काही।
सुचलि चालियो उदैसिंघ समोभ्रम, माल्हियो आबुवां सेन मांही ॥२॥
सारजळबोळ दळबेल सीरोहियो, बिरदपति बींटियो घणै बांणै।
पिसण धड़ रहचि धड़ चांपतो पोयणी, जगो पाबासरो हंस जांणै ॥३॥
हंस गति हंस जगमाल हालै संग्रहि, धारि आवारि ले लहरि धायो।
सारि अरि मारि तणौ लाए सधण, पार सांगाहरै सरग पायो ॥४॥

रायसिंह देवड़ा के गीत में राठौड़ों और सिसोदियों को भाँग-तिजारा व गुड़ की संज्ञा देते हुए 'कसूँमा' तैयार करने का रूपक बाँधा गया है। इसी प्रकार सादुल पँवार के गीत में पत्र-लेखन का, गोपालदास माँडणोत के गीत में बारात का, दलपत रायसिंहोत के गीत में रति-प्रसंग का तथा खींचियों से सम्बन्धित गीत में दूध को कढ़ाई में उबालने का रूपक है। रूपकों की यह परम्परा भी नवीन नहीं है। ऐसे बहुसंख्यक रूपक गीत-साहित्य में उपलब्ध हैं। इनका शैलीगत विकास कला-पक्ष का ही अंग बन कर रह गया था, भावों की गरिमा इनसे दूर ही रही थी।

(८) प्रताप-प्रशस्ति

प्रताप सम्बन्धी दूहे व गीत प्रिथीराज की कृति के रूप में प्रसिद्ध रहने पर भी इतिहासज्ञों ने इस प्रकार की सम्भावना से इन्कार किया है। जैसा कि पूर्व में चर्चा की गई है, रचना की सम्भावना को नकारा नहीं जा सकता। प्रिथीराज द्वारा प्रताप को लिखे गए पत्र में भेजे गए पाँच दूहों के अतिरिक्त ९ दूहे इस प्रसंग के और उपलब्ध हैं। इनमें से कुछ दूहे दुरसा आढ़ाकृत समझी जानेवाली 'विरुद्ध

छिहत्तरी' में भी दिए गए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कर्नल टॉड ने प्रताप के चरित्र को ऊँचा उठाने के लिए जो प्रयास किया, उसी के परिणामस्वरूप कुछ कवियों ने प्रताप विषयक रचनाएँ करके प्राचीन प्रतिष्ठित कवियों के नाम से प्रचारित करने के प्रयत्न किये। **'विड़द छिहत्तरी'** के कतिपय प्रसंगों, रचनाओं की भाषा और कुछ अन्य प्रासंगिक उल्लेखों से अनेक विद्वानों ने उक्त रचना को दुरसा कृत मानने से अस्वीकार कर दिया है। कुछ वैसी ही शंका इन दूहों की भाषा को देखकर इनको प्रिथीराज की रचना मानने में की जा सकती है। दूहों की सम्बोधन-शैली, अकबर की अवमानना में प्रयुक्त शब्द तथा **'विड़द छिहत्तरी'** के कुछ दूहों से इनका साम्य इस शंका को आधार प्रदान करते हैं। दूहों के अतिरिक्त प्रताप के लिए दो-तीन गीत भी प्रिथीराज ने रचे थे, जिनकी चर्चा यशगीतों के सन्दर्भ में की गई है।

प्रकीर्णक—स्फुट साहित्य की राजस्थानी रचनाओं में लालाँदे तथा चम्पादे विषयक दूहे, कूट दूहे, सज्जन-भाव के दूहे तथा कुण्डलियाँ आदि हैं।

चम्पादे सम्बन्धी दूहों में श्रृंगार रस के कुल १४ दूहे हैं, जिन्हें प्रिथीराज ने अपनी पत्नी को सम्बोधित कर लिखा है। प्रिथीराज का अपनी पत्नी से अत्यधिक प्रेम था, उसका अनुमान इन दूहों से सहज ही लगता है—

हंसो चीतै मानसर, चकवी चीतै भांण।
तिम हूँ तूनै चीतवूं, भावै जांण म जांण॥

सम्भवतः चम्पादे से इस प्रगाढ़ प्रेम के कारण ही वे चम्पक पुष्प को साहित्य में इतना महत्त्व देते थे। एक भावुक हृदय कवि से यही आशा की जा सकती है।

कूट दूहों के कुछ नमूने भी उपलब्ध हैं। कूट पद रचने की प्रणाली का मूल सन्त-कवियों की उलटबाँसियों में खोजा जा सकता है। यद्यपि उनके जैसे गूढ़ अर्थ का इनमें अभाव था, पर साहित्यकारों के मनोरंजन और कौतुहल के लिए ऐसी रचनाएँ चलती रहती थीं। कूट पद रचयिताओं को आम आदमी बड़े ज्ञानी और पण्डित समझते थे। सम्भव है, युग के उस प्रवाह में प्रिथीराज ने भी कुछ कूट दूहे लिखे हों। (ऐसा एक कूट छप्पय तथा एक दूहा परिशिष्ट में देखा जा सकता है।)

सज्जन भाव के दूहे

ये दूहे ब्रजभाषा तथा डिंगल दोनों में ही लिखे गए हैं। इन दूहों में अनेक प्रकार के भाव प्रकट किए गए हैं। प्रिय के लिए प्रियतमा का सखी के प्रति कथन द्रष्टव्य है—

आली मोरा अवगुणाँ, साहिब केर गुणाँह।
बूंद परिक्खा रेण-कण, पार न लब्भै ताँह॥

इसी भाव का तादात्म्य वे अपने अनन्य प्रियतम त्रिविक्रम में करते हुए कहते हैं—

जै मैं घण अवगण किया, तो लेखो तूं हत्थ।
तूं अवगण सन्दो श्रीकमां, तूं ही काळीनत्थ॥

सज्जन और असज्जन के भेद को स्पष्ट करते हुए प्रिथीराज ने कौए और हंस का उदाहरण देकर सांसारिक माया और भगवद्-भक्ति का भेद भी समझा दिया है—

मळमाया ऐंठी मंडळी, सुणि पृथुदास सुवंस।
जे लगै तो कग्गलो, जे छन्डै तो हंस॥

और असली सज्जन-भाव की परिणति प्रभु भक्ति में ही करते हुए प्रिथीराज ने अपने स्वाभाविक उद्‌गार पुनः प्रकट किये हैं—

जात वळै नहिं दीहड़ा, जिम गिर निरझरणाह।
उठ रे आतम धरम कर, सुवै नचिंतो काह॥

कुण्डळिया

इस नाम से भी चार छन्द मिले हैं। यह एक प्रसन्नता और विस्मय का विषय है कि एक उत्कृष्ट भक्त और शृंगार रस के सिद्ध कवि की कल्पना से राजस्थान की धरती और यहाँ के चतुर्दिक् का यशोगान किया गया है। इस वर्णन में भी नारी-रूप-वर्णन को ही विशेष महत्त्व दिया गया है। ये कुण्डळिया सुन्दर होते हुए भी उन 'ऊँचाइयों' को नहीं छू पा रहे हैं, जिन पर प्रिथीराज अपनी दूसरी उत्कृष्ट रचनाओं में प्रतिष्ठित दिखाई देते हैं। "मरुधर देश के सौन्दर्य में देशी वेशभूषा पहिने यहाँ की गौरांगियाँ अपने कोकिल-कण्ठों से घर-घर को गुँजा रही हैं। उनके नेत्र कुरंग से, गात केसर के रंग का, देह कंचन-स्तम्भ जैसी, वेणी सर्पिणी की भाँति और आँखें खंजन-सी हैं। नंगी तलवार की तरह, अप्सरा की-सी रूपवाली वे अमृत [illegible] [illegible]वाली 'पूगल' की पद्मिनियाँ 'शिव' की कृपा से ही प्राप्त हो सकती हैं।" यह सारा वर्णन अत्यन्त पारम्परिक और छिछला-सा ही है। यह मानने को मन नहीं करता कि प्रिथीराज ऐसी रचनाएँ कर सकते थे, लेकिन विद्वानों ने उन्हीं के नाम से इसका उल्लेख किया है। बहुत सम्भव है, यह प्रिथीराज नामक किसी अन्य कवि की रचना हो। एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

अपछर जेही उर वसी, रंगी लोई वेस।
पूंगळ केरी पदमणी, त्रिया मुरद्धर देस।
त्रिया मुरद्धर देस कै छैलां टोळियां।
कासूं सायिबराज कै मीठी बोलियां।
पावै गळियां पैठ कै करवत सन्धियां।
तायै धूमर पान जिण्हा रा लंधिया॥

पिंगल/ब्रजभाषा की रचनाएँ

कृष्ण-भक्ति में पगे हुए प्रिथीराज पर ब्रज भाषा के साहित्य का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। वैसे भी अवधी के बाद ब्रज धीरे-धीरे उत्तरी भारत की राष्ट्र-भाषा का रूप लेती जा रही थी। तुलसी का **'रामचरित मानस'** चौपाइयों और दूहों में लिखी जानेवाली प्रेम-कथाओं की परम्परा को राष्ट्रीय काव्य की गरिमा तक पहुँचाने में सफल हो गया था। पर सूरदास, अष्टछाप के कवियों, मीराँ तथा अन्य अनेक भक्त कवियों ने ब्रजभाषा का सम्मोहन भी चतुर्दिक् व्याप्त कर दिया था। वृन्दावन समूचे देश का श्रेष्ठतर तीर्थ बन रहा था और हज़ारों-लाखों भक्त-जन मथुरा-वृन्दावन की ओर आकर्षित होकर आ रहे थे। कृष्ण-लीला के नाना प्रसंगों को ब्रजभाषा काव्य में मुखर देखकर वे उस माधुर्य का प्रसाद लेकर लौटते थे और उसके संस्कार उनके परिवारों में घुल-मिल जाते थे। प्रिथीराज का परि-वार भी ऐसा ही एक आदर्श परिवार था। प्रिथीराज के दीक्षा-गुरु भी स्वयं विट्ठलनाथ ही थे। राजस्थान में ब्रजभाषा के राजस्थानी रूप—पिंगल—में रच-नाओं की एक सुदीर्घ परंपरा भी रही थी। इसी पृष्ठभूमि में प्रिथीराजकृत पिंगल/ब्रजभाषा की रचनाएँ द्रष्टव्य हैं। इन रचनाओं में **'स्फुट दूहे'**, **'कन्हैयानृत्याष्टक'** तथा **'राधा-श्रृंगार-वर्णन'** के नाम गिनाये जा सकते हैं। स्फुट दूहों में 'प्रवत्स्य-त्पतिका', 'मन अश्व भाव', 'ज्ञानभाव', 'सज्जनभाव' तथा 'एकांगीभाव' आदि से सम्बन्धित रचनाएँ हैं। कुल दूहे लगभग २५ ही हैं। श्लेषात्मक उक्ति का एक उदाहरण इस प्रकार है—

दीया है जग में भला, दीया करो सहु कोय।
घर में धरचो न पामीयै, जे कर दीया न होय ॥
दीया का गुण तेल है, दीया की बडि वात।
दीये उजाळा हुई रहै, दीये बिहूणी रात ॥
अखर एक परिणाम हुई, कहत पृथु कवि हेर।
ऊ घर दीया ऊ कर दीया, कज्जल उज्जल फेर ॥

ज्ञान भाव के दूहों में अरहट को लक्षित कर सृष्टि के क्रम का चित्र खींचा गया है—

वसती तें ऊजर भई, ऊजर तें पुनि वास।
इह जुग अरहट की घड़ी, देखि डरचो प्रिथुदास ॥

राधा के श्रृंगार-वर्णन की तीन षट्पदियाँ उपलब्ध हैं, जिनमें नख-शिख के पारम्परिक उपमानों का प्रयोग किया गया है—

आनन बैनी नयन बैन पुनि दसन सु कटि गति।
ससि सर्पिन मृग पिक अनार केहरि करानन पति ॥

पुरन खिझत जक तरुन पक्व वर पंच पुष्ट बल।
सरद पताल बिछोह बाग तरुलता गिरि वन कज्जल ।।
निसि सन्निवास सावक युक्त, विगस प्रसूती मद झरत।
पृथ्वीराज भनत बंसी बजत, अस वनिता बन-बन फिरत ।।

'कन्हैयानृत्याष्टक' नामक अमृतधुनि पद संगीत प्रधान रचना है। इनमें नृत्य के बोलों का समावेश करते हुए शब्द-रचना की गई है। इससे जान पड़ता है कि काव्य के अतिरिक्त संगीत, नृत्य आदि ललित कलाओं का भी प्रिथीराज का ज्ञान उच्चस्तरीय था। ऐसी नृत्य-प्रधान रचनाएँ अन्य कवियों ने भी की हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि ऐसी रचनाओं की भी एक रूढ़ि-सी प्रचलित हो गई थी। नृत्याष्टक के शब्द-संयोजन की एक बानगी इस प्रकार है—

धुधुकटि धुधुकटि धुकटि धुकटि कटि मधुर मधुर धुनि करत कन्हैया।
बजत पखावजि धुधुमपि धुधुमपि धपमप धपमप थइ थइ थैया।
धागड़दिक ताल ताल मिलि झुजकटि ततथइ ततथइ थइ थइ थैया।
सकल प्राण प्रिथीराज सुकवि कहि, बजत मृदंग तत नचत कन्हैया ।।

श्रीकृष्ण के रूप-वर्णन तथा लीला-पराक्रम के विभिन्न प्रसंगों को समेटते हुए उनके नृत्य को इस अष्टक में बखूबी बाँधा गया है।

उपर्युक्त सभी विधाओं की विविध रचनाओं से प्रिथीराज के कवित्व, काव्य-शास्त्र के अध्ययन, अनेक कलाओं तथा ज्ञान-विज्ञान के अंग-उपांगों की जानकारी, भाषा और छन्द पर असाधारण अधिकार तथा भक्ति के रहस्य-लोक में मँडराती हुई कवि की भावनाओं का रससिद्ध स्वरूप, सभी प्रत्यक्ष हो उठते हैं।

वलि—एक अध्ययन

परम्परा और नामकरण

'वेलि' संज्ञक रचनाओं की एक सुदीर्घ और पुष्ट परम्परा रही है। पर सभी 'वेलि' रचनाएँ छन्द और विषय-वस्तु की दृष्टि से समान नहीं हैं। धार्मिक साहित्य की जैन वेलियाँ एवं निर्गुणी सन्तों और लौकिक शैली की सन्त साहित्य की वेलियाँ, तथा चारण साहित्य की ऐतिहासिक और भक्ति-विषयक वेलियाँ बड़ी संख्या में ज्ञात हैं। 'वेलि' को प्रिथीराज ने 'लता' के रूप में ही माना है और कृष्ण की यश-गाथा को वल्लरी की तरह पल्लवित, पुष्पित और प्रसरित होते देखना ही उनका अभीष्ट रहा है। वेलि के माध्यम से वे अपनी वाणी को भी जनप्रिय होते देखना चाहते हैं—

पिंडि नख सिख लगि ग्रहणे पहिरिए, महि मूं वाणी वेलि मई।
जग गळ लागी रहै असै जिमि, सहै न दूखण जेम सई॥

(नखशिख तक गहनों से सुसज्जित, मेरी सुन्दरी-वाणी इस वेलि के माध्यम से संसार के गले लगी रहे और इसमें किसी प्रकार का दोष न लगे।)

स्पष्ट है कि वल्लरी के रूप में कृष्ण का यश दिन-दिन बढ़े, यही भाव वेलि के नामकरण के मूल में है। 'वंश-वृद्धि' के लिए 'बेलवधै' का मुहावरा लोक-व्यवहार में विद्यमान है। इसलिए वेलि संज्ञक नामकरण के पीछे चरित-नायक की यश-वृद्धि की कामना ही प्रधान कारण रहा है। इस अर्थ में धार्मिक, ऐतिहासिक आदि सभी वेलियाँ समाहित की जा सकती हैं।

संस्कृत साहित्य में लता, वल्लरी, लतिका, स्तवक, सुमन, कुसुमावलि आदि अनेक प्रकार के नाम वृक्षों, लताओं, पुष्पों, पुष्प-गुच्छों आदि से सम्बन्धित रखे जाते रहे हैं। इन्हीं लता, वल्लरी संज्ञक रचनाओं के अनुकरण पर भाषा-काव्यों में ये नाम ग्रहण किए गये। लता के विस्तार और निरन्तर पल्लवित एवं कुसुमित होने के भाव ने कवियों को अधिक रिझाया। इसीलिए लता या वेलि नामक रचनाओं का प्रचलन बढ़ा। देवताओं, वीरों, आश्रयदाताओं आदि के यश-गान के लिए यह नामकरण उपयुक्त समझा गया। राजस्थानी तथा व्रज साहित्य, दोनों में

ही प्राप्त बहुसंख्यक वेलियाँ इसकी साक्षी हैं ।

डिंगल की ऐतिहासिक तथा भक्ति-प्रधान वेलियों में छन्द की समानता को देखकर कुछ लोग यह अनुमान लगाते हैं कि 'वेलियो' गीत छन्द में लिखी जाने के कारण ही, ये रचनाएँ वेलियाँ कहलाईं। पर ऐसा सोचना ठीक नहीं है क्योंकि जैन-धर्म की तथा निर्गुणी सन्तों की वेलियों का 'वेलियो' गीत छन्द से कोई सम्बन्ध नहीं है। दूसरे, यदि 'वेलियो' गीत छन्द के अनुसार ही नामकरण किया जाता तो **'किसन रुकमणी री वेलि'** न कहकर **'किसन रुकमणी री वेलियो'** कहा जाता। छन्दों पर किए गए रचना-नामों में यही प्रवृत्ति पाई जाती है, यथा—मानसिंह रा झूलणा, ढोला मारूरा दूहा, सीताराम चौपई, मयण भट्ट रा कवित्त, विवेक वार निसाणी, भूचर मोरी नी गजगत, षड्ऋतु झमाल, जेठवैरा सोरठा, हालां झालां रा कुण्डळिया, इत्यादि। राजस्थानी रचनाओं के विकास-क्रम से सुपरिचित विद्वान इस वस्तुस्थिति से भली-भाँति परिचित हैं। इसलिए 'वेलियो' गीत छन्द में लिखी जाने से ही 'वेलि' नामकरण की सार्थकता सिद्ध करना भ्रामक है।

विषय-वस्तुगत साम्य केवल व्यापक रूप से ही ठीक कहा जा सकता है। चरित-नायक भले ही देवता हो या मानव, वीर हो या भक्त, राज परिवार का सम्पन्न व्यक्ति हो या विरक्त सन्त, उसकी कीर्ति का कथन ही वेलि में अभीष्ट है। ऐतिहासिक वेलियो में भी भले ही घटनाओं को प्रधानता दी गई हो, पर विशिष्ट वीर की प्रशस्ति ही रचना का मुख्य आधार होता है।

प्रिथीराज से पूर्व की जैन साहित्य की वेलियों में 'चिहुँगति वेलि' (१५२० वि०), 'जम्बू स्वामी वेलि' (१५३५ वि०), 'रहनेमि वेलि' (१५३५ वि०) और 'पंचेन्द्रिय वेलि' (१५५० वि०) के नाम गिनाये जा सकते हैं, यद्यपि यह नामावली बहुत बड़ी हो सकती है। वेलियों का यह क्रम जैन साहित्य में निरन्तर चलता रहा था। डिंगल की वेलि रचनाओं में प्रिथीराज से पूर्व की वेलियों में चूंडा दधवाड़िया कृत **'गुण चाणिक वेलि'**, तथा साँखला करमसी रुणेचा कृत **'कृष्ण जी री वेल'** प्रमुख हैं। प्रिथीराज की वेलि के पश्चात् बननेवाली वेलियों में **'त्रिपुर सुन्दरी वेलि'**, **'महादेव पारवती री वेलि'**, **'रायसिंह री वेलि'**, **'सूरसिंह री वेलि'**, तथा **'अनूपसिंह री वेलि'**, हैं। **'देई दास जैतावत री वेलि'**, **'राणै उदयसिंह री वेलि'** आदि अनेक और नाम भी गिनाये जा सकते हैं। लौकिक वेलियों में ' **'तोळादे री वेल'**, **'रूपांदे री बेल'**, **'पीर गुमानसिंघ री बेल'** आदि नाम उपलब्ध हैं। ये भी सन्तों से सम्बन्धित ही हैं तथा इनमें छन्द विषयक कोई प्रतिबन्ध नहीं दिखाई देता। इसलिए वेलि-काव्यों की परम्परा और विषय-वस्तु को देखते हुए इसके नामकरण और छन्द-विशेष संबंधी कोई ऊहापोह की गुंजाइश नहीं है।

रचनाकाल

डॉ० तेस्सितोरी ने 'वेलि' का सम्पादन करते समय रचनाकाल संबंधी निम्न पद्य को ही मान्यता दी है—

वरसि अचळ गुण अंग ससी संवति, तवियौ जसकरि स्री भरतार।
करि स्रवणे दिन राति कंठि करि, पासै स्रीफल भगति अपार।।

इसके अनुसार संवत् १६३७ ही रचना-संवत् ठहरता है। सन् १९१९ में प्रकाशित उस ग्रन्थ के बाद प्राप्त कुछ प्रतिलिपियों में रचना संवत् से दूसरे ही पद्य मिले हैं, जिनमें १६३६, १६३८, १६४४ आदि रचना-संवतों के उल्लेख हैं। एक प्रति में 'वसु शिव-नयण रस शशि वछरि' १६३८, दूसरी में 'सोळसै' सुकल चुआळे वरषे १६४४ तथा तीसरी में 'सोलह सौ संवत् छत्रीसा वरषे १६३६' पाठ दिया है। इन सबके आधार पर रचना संवत् १६३६ से १६४४ के बीच मानी जा सकती है। विद्वानों की यह भी मान्यता है कि रचना का प्रारम्भ तो १६३६ या १६३७ में ही हो गया होगा, पर उसकी समाप्ति १६४४ में हुई होगी। पर ऐसा कहते समय वे भूल जाते हैं कि रचनाकाल का उल्लेख जब रचना के अंत में हो तो वह समाप्ति का ही सूचक होता है। प्रारंभ करने का संवत् तो प्रारम्भ के वर्णन के साथ ही होता है। और फिर ३०५ छन्दों की छोटी-सी रचना के लिखने में किसी सिद्धहस्त कवि को सात-आठ वर्ष की लंबी अवधि लगे, यह मानने को जी नहीं चाहता। वेलि की प्राचीनतम प्रति संवत् १६६९ की गागरोणगढ़ में लिखी उपलब्ध हुई है, जिसमें प्रिथीराज के छोटे भाई 'सुरताण' का नाम आया है। सुरताण वहाँ के हाकिम रहे बताये जाते हैं। इसलिए प्रति की प्रामाणिकता असंदिग्ध है। पर रचना-संवत् का इसमें कोई उल्लेख नहीं है। इससे विद्वानों की यह भी धारणा बनी है कि ऐसे संवत् वाले उल्लेख बाद में जोड़े गये हैं, अन्यथा उस प्रति में भी होते। उनका यह भी कहना है कि डिंगल ग्रन्थों में ऐसे उल्लेख नहीं पाए जाते हैं। इस दूसरी दलील की तो कोई प्रामाणिकता नहीं हैं, क्योंकि कवि तथा लिपिकार सदैव ऐसा करने में स्वतन्त्र थे। प्रिथीराज जैसे पंडित के लिए तो ऐसा करना स्वाभाविक भी था। पर तेस्सितोरी द्वारा अपने संपादन में जिन प्रतियों के पाठान्तर उद्धृत किए गए हैं, उन सभी में रचनाकाल विषयक वही छन्द है, जिसमें १६३७ विक्रम का उल्लेख है। इनमें से एक प्रति १६७३ संवत् की भी लिपिकृत है। इसलिए १६३७ को ही सही रचना संवत् माना जाना चाहिए। जब तक अन्य संवतों के विषय में पुष्ट प्रमाण नहीं उपलब्ध हो जाता तब तक सुदूर गुजरात और मेवाड़ की रचना-संवतों को मान्यता नहीं दी जा सकती। बीकानेर राजवंश के अपने ग्रन्थागार की प्रतियाँ निश्चय ही अधिक विश्वसनीय होनी चाहिए।

यह सब होते हुए भी रचना-संवत् में कोई मामूली अंतर कभी प्रमाणित भी हो जाए तो उससे काव्य के मूल्य में कोई अन्तर आने वाला नहीं है। उसका महत्त्व तिथि की सुनिश्चितता तक ही सीमित है।

वेलि का छन्द

वेलि की रचना 'वेलियो' नामक गीत छन्द में ही की गई है। **'रघुवर जस प्रकास'** के लेखक किसना आढा ने **'बड़ा साणोर'** नामक गीत-भेद के सात उपभेदों में एक 'वेलियो साणोर' बताया है। दूसरे छः उपभेद सुद्ध साणोर, प्रहास साणोर, छोटो साणोर, सूहणो साणोर, पूणियो साणोर (जांगड़ो) तथा सोरठियो साणोर हैं। 'वेलियो साणोर' का लक्षण इस प्रकार दिया है—

मुण धुर तुक अठार मत, बीजी पनरह वेख।
तीजी सोळह चतुरथी, पनरह मत्ता पेख॥
सोळह पनरह अन दुहां, गुरु लघु अंत बखांण।
कहै एम सुकवी सकळ, जिकौ वेलियो जाँण॥

(गीत की पहली तुक में १८ मात्रा, दूसरी में १५, तीसरी में १६ तथा चौथी में १५ हों और बाकी दूहों में १६-१५ के क्रम से हों और अन्त में एक गुरु एक लघु हो—उसे 'वेलियो'साणोर कहते हैं।)

इसके अतिरिक्त मिस्र वेलियो का लक्षण पृथकतः यों दिया है—

समिळ वेलियो सोहणो सझ फिर खुड़द समेळ।
मिस्र वेलियो कवि पुणै, भळ जांगड़ो न भेळ॥

(वेलियो, सोहणो, खुड़द साणोर—ये तीनों ही जिसमें इकट्ठे हों, वह मिस्र वेलियो कहा जाता है। इनके साथ जांगड़ो साणोर नहीं होना चाहिए।)

तेस्सितोरी ने वेलियो छन्द की व्याख्या करते हुए उसके प्रथम चरण में १८, तीसरे में १६ तथा पहिले व चौथे में १४ से १५ मात्रायें होने की बात कही है। इनमें १४ भी सम्भव है। शायद वेलि के छन्दों को आधार मानकर ही तेस्सितोरी ने यह लक्षण दिया है। वेलि में अनेक स्थानों पर मात्राएँ कम या अधिक हैं, तथा गुरु-लघु का बंधन भी नहीं रखा गया है। १८-१३-१६-१३ के लक्षण का एक छन्द निम्न प्रकार है :—

कसतूरी गारि कपूर ईंट करि, नवै विहाणै नवी परि।
कुसुम कमळ दळ माळ अलंकित, हरि क्रीड़ै तिणि धवळहरि॥१९२॥

१८-१५-१६-१५ का एक अन्य छन्द देखिए—

आगै जाइ आलि केलिग्रिह अंतरि, करि अंजण मारजण करेण।
सेज वियाजि खीरसागर सजि, फूल वियाजि सजे तसु फेण॥१५९॥

उपर्युक्त प्रथम उदाहरण 'खुड़द साणोर' के लक्षणों के अनुरूप है तथा बाद का

वेलियो के। अतः कवि ने दोनों ही गीत छन्दों का निर्बाध रूप से प्रयोग किया है। खुड़द साणोर में अन्त में लघु-लघु या लघु-गुरु का प्रावधान है। प्रिथीराज ने प्रायः दोनों लघु ही काम में लिये हैं। खुड़द साणोर के इस भेद को 'हंसमग' भी कहते हैं। प्रिथीराज का भावुक हृदय हंस की गति को ही अपने छन्द में समेटना चाहता था, इसलिए उन्होंने इसी हंसगमन की चालवाले छन्द को चुना। इसमें 'मिस्र वेलियो' की सम्भावना भी है क्योंकि सुहणो साणोर का भी मेल दिखाई देता है, जिसमें १८-१४-१६-१४ के क्रम से मात्रा-विधान निर्धारित है।

कथा-स्रोत और कथानक

वेलि के कथानक का स्रोत **'भागवत पुराण'** ही है क्योंकि कवि ने स्वयं ऐसा उल्लेख किया है—**'वल्ली तसु वीज भागवत वायौ'** ॥२९१॥ 'हरिवंश तथा 'विष्णु पुराण' आदि ग्रन्थों में भी कृष्ण-रुक्मिणी विवाह-प्रसंग की कथा दी गई है। पर **'भागवत'** (अध्याय ५३ से अध्याय ५५ तक) में यह सर्वाधिक विस्तार में उपलब्ध है। भागवत का वर्णन और घटना-क्रम भी 'वेलि' से बहुत अधिक समानता रखते हैं। इसलिए वेलिकार के कथन पर विश्वास करते हुए वेलि के कथानक को अन्यत्र ढूंढना निरर्थक है। लेकिन 'भागवत' का कथानक जहाँ **'गर्गसंहिता'** के वर्णन से साम्य रखता है, वहीं **'ब्रह्मवैवर्त्त पुराण'** से उसकी भिन्नता है। ब्रह्मवैवर्त्त पुराण में रुक्मि शिशुपाल को आमंत्रित कर लेता है और यादवों से युद्ध भी करता है पर उसकी सेना पलायन कर जाती है। तदनंतर यादव लोग कृष्ण के साथ कुंडिनपुर में प्रवेश करते हैं और राजा भीष्मक विधिपूर्वक वहीं रुक्मिणी का विवाह कृष्ण के साथ सम्पन्न करते हैं। दहेज आदि देकर बारात विदा की जाती है। विवाहिता रुक्मिणी को लेकर ही यादव द्वारिका में प्रवेश करते हैं। इस प्रकार इस पुराण में रुक्मिणी का हरण न दिखाकर विवाह ही दिखाया गया है। इसमें यह भी बताया गया है कि गौतम पुत्र शतानन्द की राय से भीष्मक ने एक विश्वस्त ब्राह्मण के हाथ द्वारिका में राजा उग्रसेन के पास मंगल-पत्रिका भिजवा दी थी, जिसे पाकर वे बारात लेकर आ गए थे। इस प्रसंग से रुक्मिणी के हरण की कथा एक प्रकार से असत्य हो जाती है। पर इसके विपरीत **गर्गसंहिता, हरिवंश, विष्णु पुराण** आदि में **भागवत** की तरह ही हरण की कथा दी गई है। कथा के कुछ प्रसंगों को छोड़कर शेष सभी मुख्य अंश ज्यों के त्यों वेलिकार ने अपनाये हैं। कुछ उक्तियाँ भी वैसे ही लेकर रख दी गई हैं। नगर-वर्णन, शृंगार-वर्णन, युद्ध-वर्णन आदि में भी पर्याप्त समानता है। पर ऐसा होते हुए भी वेलि की अपनी मौलिकता में कोई व्याघात नहीं आ पाया है। वेलि और भागवत की समानता के अंश उदाहरणस्वरूप देखे जा सकते हैं :—

भागवत पुराण	वेलि
१. मा वीर भागमभिमर्शतु चैवा आराद्-गोमायुवन्मृगपतेर्बलिमम्बुजाक्ष —(भागवत पुराण १५-५२-३९)	मूझ सियाळ सिघ बळि प्रासै जौ बीजौ परणै (५९)
२. स चाश्वैःशैब्यसुग्रीवमेघपुष्प-बलाहकैः। युक्तं रथमुपानीय तस्थौ प्रांजलिरग्रतः। —(भागवत पुराण १०-५३-५)	सुग्रीवसेन नै मेघपुहप समवेग बलाहक इसै वहन्ति (६८)
३. तमागतं समाज्ञाय वैदर्भी हृष्ट-मानसा। न पश्यन्ती ब्राह्मणाय प्रियमन्यन्ननाम सा। —(भागवत पुराण १०-५३-३१)	बम्भण मिसि वन्दै हेतु सु बीजौ (७३)
४. यद्यदायुधमादत्त तत्सर्वं सोऽच्छिन्न द्हरिः। —(भागवत पुराण १०-५४-२९)	अे अखियात जु आउधि आउध सजै रुकम हरि छेदै सोजि (१३३)

वेलि का कथानक अति संक्षिप्त है। पर काव्योचित प्रसंगों को कवि ने पर्याप्त विस्तार दे दिया है। कथानक स्थूल रूप से इस प्रकार है—

दक्षिण दिशा में विदर्भ नामक देश में कुन्दनपुर नामक नगर था। वहाँ के राजा भीष्मक के पाँच पुत्र तथा छठी पुत्री थी। पुत्रों के नाम रुक्म, रुक्मबाहु, रुक्मालि, रुक्मकेश और रुक्मरथ थे, तथा पुत्री का नाम रुक्मिणी था। रुक्मिणी लक्ष्मी का अवतार थी। वह अत्यन्त सुन्दर और स्त्रियोचित सभी लक्षणों से युक्त थी। (यहाँ कवि ने रुक्मिणी के शैशव, वयः संधि और यौवन का विस्तृत वर्णन करते हुए नख-शिख शृंगार का भी वर्णन किया गया है।) रुक्मिणी ने व्याकरण, पुराण, स्मृति, शास्त्र, वेदादि का सम्यक् अध्ययन किया और चौदह विद्याओं तथा चौसठ कलाओं में भी नैपुण्य प्राप्त किया। उसने वर प्राप्ति के लिए गौरी-पूजन किया। राजा भीष्मक ने कृष्ण को सर्वथा उपयुक्त वर जान कर अपने परिजनों से विचार-विमर्श किया। पर उसके बड़े पुत्र ने इसका विरोध किया। उसने कृष्ण को ग्वाला बताकर क्षत्रियों की तुलना में अहीरों से विवाह-सम्बन्ध स्थापित करने की निन्दा की। पुत्र द्वारा विरोध किए जाने पर राजा भी चुप हो गया। उसके पुत्र ने चन्देवरी पुरी के राजा शिशुपाल को वर निश्चित करते हुए पुरोहित के हाथ उसको निमंत्रण भिजवा दिया। निमंत्रण पाकर शिशुपाल अनेक राजाओं की बारात बनाकर कुन्दनपुर आ गया। उसके स्वागत में कुन्दनपुर को खूब सजाया-सँवारा गया।

रुक्मिणी यह सब देखकर बड़ी दुखी हुई, क्योंकि उसने मन-ही-मन कृष्ण

का वरण कर लिया था। इस विकल अवस्था में ही उसने गवाक्ष में से एक ब्राह्मण को राह चलते देखा। ब्राह्मण को सन्देश लेकर द्वारिका जाने की विनय करके उसे काजल-जल से नख द्वारा लिखित सन्देश-पत्रिका दी। ब्राह्मण पत्रिका लेकर कुन्दनपुर से निकलते-निकलते साँझ हो जाने जाने के कारण सो गया। प्रभात होते ही जब आँख खुली तो उसने अपने आपको द्वारिकापुरी में पाया। इस आश्चर्यजनक सत्य से चकित होता हुआ वह श्रीकृष्ण के अंतःपुर में चला गया, जहाँ श्रीकृष्ण ने उसका बहुत सम्मान किया। ब्राह्मण द्वारा दी गई पत्रिका का प्रेम-विह्वल अवस्था के कारण स्वयं पढ़ सकने में असमर्थ श्रीकृष्ण ने ब्राह्मण से ही उसे पढ़वाया। पत्र में रुक्मिणी ने लिखा था कि यदि उसका विवाह किसी दूसरे से हो जाएगा तो वह ऐसा होगा मानो सिंह की बलि को गीदड़ खा गया। कपिला गाय कसाई को दे दी गई अथवा तुलसी चाण्डाल के हाथ पड़ गई। यदि कृष्ण के अतिरिक्त कोई दूसरा वर उसे विवाहेगा तो होमाग्नि में जूठन डालने, शालिग्राम शूद्र के घर होने और वेद-मन्त्रों का म्लेच्छों द्वारा उच्चारण किए जाने के समान होगा। इसी प्रसंग में रुक्मिणी ने वराहावतार, कच्छपावतार, रामावतार आदि का स्मरण कराकर उसका उद्धार करने की वात कही है, और अब की बार भी वैसा ही करने का निवेदन भी। पत्रिका के अन्त में, उसने विवाह से पूर्व अम्बिका पूजन के लिए शहर से बाहर जाने की बात कहकर संकेत-स्थल भी बता दिया है।

पत्र पढ़कर श्रीकृष्ण ब्राह्मण के साथ कुन्दनपुर गए। ब्राह्मण ने यह समाचार रुक्मिणी तक पहुँचाकर उसकी विकलता मिटाई। श्रीकृष्ण को रुक्मिणी-हरण के लिए गया सुनकर श्री बलराम भी सेना सहित कुन्दनपुर पहुँच गये। उन दोनों को देखकर कुन्दनपुर के लोग बहुत प्रसन्न हुए। रुक्मिणी ने माता की आज्ञा लेकर अम्बिका के मन्दिर में दर्शनार्थ जाने के लिए शृंगार प्रारम्भ किया। (यहाँ कवि ने पुनः नख-शिख पद्धति से रुक्मिणी के शृंगार का वर्णन किया है।) भली प्रकार शृंगार करके सखियों को साथ लिये हुए रुक्मिणी अंगरक्षकों के साथ अम्बिका के देवालय गई। उसने माता के दर्शन करके बड़े भावपूर्वक कृष्ण को वर-रूप में प्राप्त करने की प्रार्थना की। उस समय जब वह देवालय से बाहर निकली तो उसके अनिंद्य सौंदर्य को देखकर सभी सेना मूर्छित होकर प्रस्तरवत खड़ी हो गई। इसी उपयुक्त अवसर पर श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी को अपने रथ में बैठाकर उसका हरण कर लिया। यह समाचार जानकर वीरों ने श्रीकृष्ण को ललकारा और घनघोर युद्ध प्रारम्भ किया। (यहाँ कवि ने डिंगल परम्परा में युद्ध का विस्तृत वर्णन किया है।) लड़ाई में यद्यपि प्रधान कार्य बलराम ने ही किया पर रुक्मिणी के भाई द्वारा बारम्बार विवश किए जाने पर श्रीकृष्ण ने उसके आधे केश उतार कर उसे विद्रूप कर दिया। रुक्मिणी का लिहाज करके

उसके प्राण हरण नहीं किए। बलराम ने श्रीकृष्ण की निन्दा की कि उसे अपने साले का इस प्रकार अपमान नहीं करना चाहिए था। इस पर श्रीकृष्ण ने उसके सिर पर हाथ रखकर उसे पुन: रूप प्रदान किया।

इस प्रकार शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर रुक्मिणी, बलराम आदि के साथ श्रीकृष्ण ने द्वारिका में प्रवेश किया, जहाँ नगरवासियों ने उनका बहुत स्वागत किया। उस समय द्वारिका को खूब सजाया गया। ज्योतिषी से विवाह का मुहूर्त पूछे जाने पर उसने कहा कि विवाह तो तभी हो गया था जब श्रीकृष्ण ने रुक्मिणी का पाणिग्रहण किया था। पर विधिवत् विवाह पुनः किया गया। विवाह-संस्कारोपरांत दम्पत्ति के शयन-गृह के वर्णन, षड्ऋतु-वर्णन आदि के उपरान्त, जो पर्याप्त विस्तार से युक्त है, रुक्मिणी के गर्भ का प्रसंग दिया गया है। प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध के जन्म के प्रसंग देकर काव्य की सुखद समाप्ति की गई है। तदनन्तर रुक्मिणी-मंगल के माहात्म्य का बखान तथा कवि का अपना वक्तव्य देकर ग्रंथ सम्पूर्ण किया गया है।

रुक्मिणी-विवाह-काव्यों की परम्परा

यह प्रसिद्ध पौराणिक प्रसंग कवियों का बड़ा प्रिय रहा है। संस्कृत काव्यों के समय से ही अनेकानेक कवियों ने इस विषय पर अपनी काव्य-कला का प्रदर्शन किया है। भट्ट मोरा कृत **'रुक्मिणी विवाह कौतुकम्'** संस्कृत की एक उत्कृष्ट रचना है। राजस्थानी तथा हिन्दी की उपभाषाओं में जैन तथा वैष्णव कवियों ने इस प्रसंग की अनेक रचनाएँ की हैं, जिनमें से कुछ अधिक सुज्ञात नाम इस प्रकार हैं—

१. रुक्मिणी मंगल (केसोराय)
२. रुक्मिणी मंगल (विष्णुदास)
३. रुक्मिणी मंगल (पद्माकर)
४. रुक्मिणी को व्यावलो (सहसमल)
५. रुक्मिणी को व्यावलो (सूरदास)
६. रुक्मिणी को व्यावलो (पदम भगत)
७. रुक्मिणी हरण रास
८. रुक्मिणी परिणय (रघुराजसिंह)
९. रुक्मिणी हरण (विजैराम)
१०. रुक्मिणी विजै व्यावलो
११. रुक्मिणी सझाय (राजविजय)
१२. रुक्मिणी री सझाय (रूपविजय)
१३. रुक्मिणी री ढाळ (गुणसागर)

१४. कृष्ण-रुक्मिणी विवाह (अज्ञात)
१५. रुक्मिणी हरण (सायाँझूला)
१६. किसनजी री वेल (करमसी सांखळा)
१७. रुक्मिणी मंगल (नन्ददास)
१८. गुणविजै व्याह (मुरारिदास)
१९. रुक्मिणी हरण (विट्ठलदास)
२०. रुखमणी मंगळ (नरहरि)

अन्य अनेक ग्रन्थों में भी कृष्ण-चरित के प्रसंगों में रुक्मिणी-हरण की कथा दी हुई मिलती है।

पर यह सब होते हुए भी प्रत्येक काव्य उसके कवि की एक स्वतन्त्र रचना होती है, जिसमें वह अपने अनुभवों, भावनाओं, कल्पनाओं और काव्य-कला के नैपुण्य का प्रदर्शन करता है। इस प्रकार सार्वजनीन होते हुए भी वह काव्य कवि के स्वयं के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होता है। इस दृष्टि से प्रस्तुत रचना अपनी पूर्वगामी तथा समकालीन रचनाओं से सर्वथा भिन्न है। इसका यत्किंचित् सादृश्य, करमसी सांखला कृत **'किसनजी री वेल'** से अवश्य है। प्रिथीराज उक्त रचना से पर्याप्त रूप में प्रभावित प्रतीत होते हैं। पर इससे उनकी मौलिकता, वेलि की महानता और प्रस्तुत काव्य की उत्कृष्टता पर कोई आँच नहीं आती।

प्रबन्ध-रचना के तत्त्व

वेलि भले ही एक लघु खंड काव्य हो, पर उसमें प्रबन्धात्मकमता का निर्वाह अवश्य हुआ है। इस रचना में रुक्मिणी को ही प्रधान पात्र रखा गया है। कवि ने प्रारम्भ में ही स्त्री की महिमा और उसके शृंगार की प्रधानता बताकर इसे 'शृंगार ग्रन्थ' की संज्ञा दी है—

> सुखदेव व्यास जैदेव सारिखा, सुकवि अनेक ते एक सन्थ।
> स्त्री वरणण पहिलौ कीजै तिणि, गूँथियै जेणि सिंगार ग्रन्थ॥

(शुकदेव, व्यास, जयदेव सदृश अनेक कवि इस बात में सहमत हैं कि जो शृंगार ग्रन्थ की रचना करे, उसे पहले स्त्री का ही वर्णन करना चाहिए।) और ऐसा प्रतिपादन स्वीकार करते हुए कवि ने स्त्री की महिमा का भी बखान किया है—

> दस मास उधर धरि वळे वरस दस, जो इहाँ परिपाळै जिवड़ी।
> पूत हेत पेखताँ पिता प्रति, वळी विसेखै मात बड़ी॥

(जो दस महीने उदर में धारण करती है और फिर दस बरस तक जीव का पालन-पोषण करती है, पुत्र के प्रति इस प्रकार माता का स्नेह देखते हुए, पिता की तुलना में उसका स्थान विशेष बड़ा है।)

इस प्रकार स्पष्ट शब्दों में अपना मंतव्य प्रकट करने पर प्रस्तुत शृंगार ग्रन्थमें

रुक्मिणी की प्रधानता में कोई सन्देह नहीं रहना चाहिए। रुक्मिणी के जन्म, शैशव, शिक्षा, वयःसन्धि काल, यौवनावस्था, वर-प्राप्ति हेतु आराधना, कृष्ण को वर रूप में प्राप्त करने की चेष्टा, हरण, परिणय और सुखोपभोग के पश्चात् दाम्पत्य-जीवन की चरम परिणति के रूप में पुत्र-पौत्रादि के जन्म का वर्णन कर कवि ने एक प्रकार से रुक्मिणी के समस्त जीवन-व्यापी चरित्र को ही अपना विषय बना लिया है। पर अपने आराध्य देव कृष्ण की महिमा का प्रदर्शन उसका अभीष्ट होने के कारण रुक्मिणी के हरण को ही अधिक प्रधानता दी गई है। रुक्मिणी को रमा का अवतार बताकर उसे आराध्य की पत्नीत्व के महान् पद पर आसीन करने के लिए रुक्मिणी के अनिंद्य सौन्दर्य और सर्वगुणसम्पन्नता का अनेकशः वर्णन बहुत आवश्यक था। हरण की पात्र होने के कारण भी उसके सौन्दर्य की अलौकिकता, जिसके दृष्टिपात मात्र से समूची सेना हतप्रभ हो गई, वर्णनीय थी। कृष्ण के बल-पौरुष और भगवद्-स्वरूप का दिग्दर्शन कराने के लिए भी हरण के प्रसंग का वीरोचित वर्णन आवश्यक था। प्रबन्ध की सार्थकता के लिए युद्ध, प्रकृति वर्णन, प्रभात-सन्ध्यादि का वर्णन, नगर-शोभा-वर्णन तथा पुरवासियों के औत्सुक्य आदि का भी यथोचित समावेश किया गया है। प्रबन्ध-परम्परा का निर्वाह करते हुए ईश-वन्दना, गुरु-वन्दना, पूर्ववर्ती कवियों का गुणानुवाद और अन्त में, माहात्म्य-वर्णन तथा कवि-कथन भी दिये गये हैं। सबसे अन्त में श्रृंगार ग्रन्थ की सार्थकता को पूर्ण रूप से सिद्ध करने के लिए विवाहित दम्पत्ति की रतिक्रीड़ा, षड्ऋतु विलास और नख-शिख वर्णन भी किया गया है। इस प्रकार प्रबन्ध-कौशल से गुँथा हुआ होकर प्रस्तुत ग्रन्थ एक उच्च कोटि की श्रृंगार-कृति बन गई है। कवि ने कोई भी ऐसा अवसर हाथ से नहीं जाने दिया है, जहाँ रुक्मिणी के श्रृंगार अथवा कृष्ण-रुक्मिणी के प्रेम, हास-विलास आदि की सम्भावना रही हो। एक सफल कवि के रूप में प्रिथीराज ने कथा की कड़ियों को सांकेतिक रूप में जोड़ते हुए प्रबन्ध-शिल्प का भली-भाँति निर्वाह भी किया है और अपने इष्ट देव तथा देवी की श्रृंगार-लीला का वर्णन करते हुए उनकी महिमा का बखान भी कर दिया है। इस प्रकार यह रचना एक भक्त और श्रृंगार रस के कवि की सफल कृति बन गई है।

शिल्प-विधान

शिल्प-विधान में छन्द अपना विशिष्ट स्थान रखता है। 'वेलि' के मात्र ३०५ छन्दों की रचना होने तथा सर्गबद्ध भी न होने के कारण इसमें पृथक्-पृथक् छन्दों की न तो कोई आवश्यकता थी और न कवि ने ऐसा करना उचित ही समझा। सम्पूर्ण रचना एक ही छन्द—वेलियो में की गई है। अपभ्रंशकालीन छन्दों की एक बड़ी विशिष्टता यह बताई जाती है कि वे लघु तुकांत होते थे। प्रिथीराज ने भी इस विशिष्टता को रखने वाले छन्दों का चयन किया है। 'छोटा साणोर' गीत के

अनेक भेदों में से 'हंसमग' नामक यह भेद इस कोटि के शृंगार ग्रन्थ के सर्वथा उपयुक्त वन पड़ा है। वहुत कम ऐसे स्थल रहे हैं, जिनमें गुरु तुकांत शब्द आये हैं। इस छन्द में १८-१५-१६-१५ मात्राओं तथा समपदों के अन्त में लघु तुकांत का विधान है, जिसका प्रायः निर्वाह किया गया है। पर कहीं-कहीं समचरणों में १५ के स्थान पर तेरह मात्राएँ भी रखी गई हैं। हंस की भाँति लघु-लघु चरणों वाला यह छन्द प्रिथीराज की काव्योचित सूझ-बूझ का परिचायक है।

छन्दों को गूँथने में शब्दों का जो सांगीतिक सौन्दर्य आवश्यक होता है, उसमें प्रिथीराज को विशेष कौशल प्राप्त था। सम्भवतः वे स्वयं भी संगीत-शास्त्र के अच्छे ज्ञाता थे। उनके द्वारा रचित 'नृत्याष्टक' नामक रचना से उनके इस ज्ञान का आभास मिलता है। वैसे भी एक भावुक हृदय के उच्च कोटि के कवि के नाते उनके शब्द-चयन की सामर्थ्य निर्विवाद है। प्रिथीराज उन सौभाग्यशाली कवियों में थे, जिन्हें डिंगल काव्यों के पारम्परिक ज्ञान के साथ ही शास्त्रीय ज्ञान का लाभ भी मिला था। एक उच्चकुलीन राजपूत परिवार में जन्म लेने के कारण भी उन्हें न केवल संस्कृत, व्रज, राजस्थानी आदि भाषाओं के ग्रन्थों के सम्यक् अध्ययन का अवसर सुलभ हुआ, अपितु उनमें पाण्डित्य और नैपुण्य प्राप्त करने के सुयोग भी मिले। उनकी स्वाभाविक प्रतिभा को इन सुयोगों से मुखरित होने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इसलिए प्रिथीराज की रचनाओं में संस्कृतगर्भित शब्दावली के साथ ही, डिंगल के ठेठ शब्दों और अन्य अनेक विद्याओं तथा कलाओं के पारिभाषिक शब्द भी यथास्थल प्रयुक्त हुए हैं। संस्कृत के तत्सम शब्दों का तद्भवीकरण भी उनके कुशल हाथों से राजस्थानी की प्रकृति में सम्यक् प्रकार रूपान्तरित हो पाया है। यद्यपि लोक-कहावतों तथा मुहावरों का भी यत्र-तत्र प्रयोग किया गया है, पर वेलि की भाषा मुख्यतः पाण्डित्यपूर्ण ही कही जायेगी। अपनी विषय-वस्तु को कवि ने जिस गरिमामय धरातल से उठाया है, उसी के अनुरूप उनका शब्द-चयन भी किया है। अपने आराध्य के गुणानुवाद के इस प्रसंग में एक भक्त कवि किसी भी प्रकार का भाषा शैथिल्य अथवा वैपरीत्य दिखा भी नहीं सकता था।

राजस्थानी रचनाकारों ने 'वैणसगाई' को अपनी कृतियों में जो महत्त्व दिया है और उससे काव्य में जो निखार आ जाता है, उसके प्रति भी प्रिथीराज जागरूक रहे हैं। इस महत्त्वपूर्ण विषय के निर्वाह में कहीं स्खलन प्रतीत नहीं होता। इस शब्दालंकार की छटा अनेक स्थानों पर अधिक दर्शनीय बन पड़ी है, यथा—

'जिणि सेस सहस फण फणि फणि बि बि जीह।
जीह जीह नवनवौ जस॥'

विशुद्ध संस्कृत में होते हुए भी एक छन्द में भाषा-सारल्य देखने योग्य है। साथ ही, प्रश्नकर्ता का औत्सुक्य एवं मंतव्य भी दर्शनीय है, यथा—

कस्मात्, कस्मिन्, किल मित्र किमर्थं, केन कार्यं, परियासि कुत्र।
ब्रूहि जनेन येन भो ब्राह्मण, पुरतो मे प्रेषितम् पत्र॥

स्थान, काल, पात्र और प्रसंग की अनुरूपता शब्द-संयोजन की एक बड़ी कसौटी होनी चाहिए। युद्ध-प्रसंग में वर्षाकाल के रूपक के शब्द-चयन की सारगर्भिता और प्रभावोत्पादकता द्रष्टव्य है—

कळकळिया कुंत किरण कळि ऊकळि, वरजित विसिख विवरजित वाउ।
धड़ि-धड़ि धबकि धार धारूजळ, सिहरि-सिहरि समखै सीळाउ॥

डिंगल रचनाओं में अरबी-फ़ारसी शब्दों का बाहुल्य जितना उत्तर-मुग़लकाल में प्राप्त है, उतना प्रारम्भिक काल में नहीं। यद्यपि विक्रम की सत्रहवीं सदी तक भी ऐसे बहुसंख्यक शब्द साहित्य में प्रवेश पा चुके थे, पर सोलहवीं सदी तक के ग्रन्थों में वह अनुपात इतना अधिक नहीं था। इस कारण के अतिरिक्त प्रिथीराज का भारतीय वाङ्मय के प्रति रुझान भी विशुद्ध भारतीय शब्दावली के अधिक प्रयोग के लिए उत्तरदायी था। इसलिए वेलि में अरबी-फ़ारसी के शब्द अपेक्षाकृत अत्यल्प ही हैं। जो हैं, वे भी अधिकतर युद्ध के प्रसंग से संबंधित हैं। विदेशी आक्रामकों से सर्वप्रथम लोहा लेनेवाले राजस्थान के क्षत्रिय समाज पर शत्रु के शस्त्रास्त्रों तथा युद्ध-कौशल की छाप पड़नी स्वाभाविक ही थी। ऐसे कुछ शब्द इस प्रकार हैं: सिलह, केकाणां, अलल, गरकाब, लंगर, रुख, दूवै आदि। अरबी-फ़ारसी शब्दों के ऐसे ही सीमित प्रयोग की प्रवृत्ति सोलहवीं तथा प्रारम्भिक सत्रहवीं सदी के अन्य राजस्थानी ग्रन्थों में भी मिलती है। विशुद्ध संस्कृत शब्दों (तत्सम) के बाहुल्य के द्योतक निम्न शब्द लिये जा सकते हैं—

आकर्षण, वशीकरण, उन्मादन, पंगु, मूर्छित, त्रिभुवन, बलिबंध, पिंड, आकृति, पत्र, वर्जित, विवर्जित आदि। वेलि में लाक्षणिक और व्यंजक शब्दों का भी बाहुल्य है। लक्षणा एवं शब्दगत तथा अर्थगत व्यंजना-शक्ति के कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं:—

१. पूजा मिसि आविसि पुरखोतम, अम्बिकालय नयर आरात (६६)—हरण के लिए उपयुक्त अवसर व स्थान व्यंजित किया गया है। (आर्थी व्यंजना)

२. घर गिरिपुर साम्हा धावन्ति (६८), रथ की तेज चाल लक्षित है।

३ सैसव तनि सुखपति (१५), शैशव के सुषुप्तावस्था में होने अर्थात् व्यतीत हो जाने का अर्थ लक्षित है।

४. वेस संधि सुहिणा सु वरि (१५)। वयः सन्धि के अनिर्वचनीय औत्सुक्य, रोमांचक स्फुरण, मधुर पीड़ा, अस्पष्ट तंद्रिल अवस्था आदि की भावनाओं को व्यक्त करने के लिए उसे स्वप्निल स्थिति से उपमित कर गूढ़तम अर्थों को व्यंजित किया गया है।

शब्दालंकारों में 'वैण सगाई' के अतिरिक्त भी आनुप्रासिक छटा की भरमार है—

'बहु बिलखी बीछड़ती बाळा बाळ संघाती वाळपण' (१७), यहाँ 'ब' वर्ण की आवृत्ति में 'श्रुत्यनुप्रास' द्रष्टव्य है। इसी प्रकार—'लाजवती अंगि एह लाज विधि, लाज करंती आवै लाज' (१८)। यहाँ 'लाज' शब्द की आवृत्ति से शब्द के साथ अर्थ-गांभीर्य भी उत्कृष्ट कोटि का बन पड़ा है। अर्थालंकारों में कवि को उपमा तथा रूपक विशेष प्रिय हैं, जिनका प्रचुर प्रयोग हरेक वर्णन में किया गया है। उत्प्रेक्षा और वक्रोक्ति की भी बहुलता है। शास्त्रीय विधि से रचित इस काव्य में से अन्य अनेक अर्थालंकार सरलता से उद्धृत किये जा सकते हैं।

भाव-सृष्टि

उत्तरकालीन संस्कृत काव्यों के रूढ़िग्रस्त हो जाने के कारण उनमें रूढ़ियों, परम्पराओं और कविसमयों की पूर्ति से जो एक प्रकार की नीरसता आने लगी थी, उससे एक सीमा तक प्रिथीराज का काव्य भी अछूता नहीं रहा है। वेलि का प्रकृति-वर्णन, ऋतु-विलास और युद्ध-वर्णन एक सीमा तक उन परम्पराओं से जकड़ा हुआ है। वहाँ भाव-संसार गौण होकर रूढ़ परिगणन में फँस गया है। पात्रों का वैयक्तिक हर्ष-शोक इस प्रकार के वर्णनों में मुखर हो भी नहीं सकता। पर जहाँ-जहाँ कृष्ण और रुक्मिणी के हृदयों को स्पर्श करनेवाले उद्‌गार हैं, वहाँ-वहाँ भाव-सृष्टि की मधुरिमा और गरिमा आकर्षित करती है। 'केलि क्रीड़ा' के वर्णन में भी कवि का मन रमा है, जिससे प्रथम मिलन के लिए जाती हुई कुलवधू की विकलता, संकोच, आशंका, हर्ष आदि संश्लिष्ट भावों की अभिव्यक्ति तथा रत्युपरान्त की दैहिक और मानसिक स्थिति का बड़ा सजीव वर्णन बन पड़ा है। कृष्ण का संदेश लेकर आनेवाले ब्राह्मण को दूर से देखते समय की व्यग्रता तथा कृष्ण द्वारा रुक्मिणी का पत्र न पढ़ पाने की रोमांचकता आदि प्रसंग भी भाव-सृजन के सक्षम दृष्टान्त हैं। मिलन-पूर्व की सन्ध्या का वर्णन करते हुए कवि ने बड़े सहज भाव से रुक्मिणी के हृदय का संकोच और मिलन-समय की सुखद अनुभूति का आभास सांध्यकालीन दृश्यावलि के चयन में व्यक्त कर दिया है—

> संकुड़ित समसमा संध्या समयै, रतिवंछिति रुखमणि रमणि।
> पथिक वधू द्रिठि, पंख पंखियाँ, कमळ पत्र, सूरिज किरणि॥

यहाँ रति के लिए उत्सुक रुक्मिणी के हृदय का संकोच—सिमटती हुई संध्या, प्रतीक्षारत पथिक वधू की दृष्टि, घोंसलों में लौटते पक्षियों के पंख, बन्द होते कमल दल और अस्त होती हुई सूर्य-किरणों से उपमित किया गया है। इन सभी उपमानों में मिलनोत्सुका वधू के हृदय का भाव-साम्य खूब फबता है। प्रतीक्षारत वियोगिनी, सुखद रात्रि-विश्राम की कल्पना लिये हुए पंछी, अपने ही हृदय की गहराइयों में मुँदता हुआ कमल और मिलन-रात्रि के लिए मार्ग प्रशस्त करती सूर्य-किरणें एक अद्‌भुत और संश्लिष्ट सामंजस्य की सृष्टि करते हैं। ऐसे ही वे स्थल हैं, जहाँ

प्रिथीराज एक महान कवि के रूप में गरिमामंडित होकर प्रतिभासित होते हैं।

रस-निरूपण

काव्य का प्रत्येक वर्णन तदनुरूप रस-निष्पत्ति करने में सक्षम हो तभी उसकी सार्थकता है। कहना न होगा कि वेलि में ऐसे स्थल अधिक नहीं हैं। वेलि यथार्थतः एक शृंगार-काव्य है। इसलिए प्रेम-प्रसंगों में ही शृंगार रस के विभिन्न भावानुभावों के माध्यम से रस-सृष्टि सफल हुई है। शृंगार के अतिरिक्त प्रसंग बहुत कम हैं और जो हैं भी, वे परम्परागत वर्णनों से लदे हुए हैं। मुख्य रूप से ऐसे इतर प्रसंग दो ही हैं, जिनका पर्याप्त विशद वर्णन किया गया है। एक तो है युद्ध-वर्णन और दूसरा प्रकृति-वर्णन। प्रकृति-वर्णन भी शृंगाराश्रित होने से उसमें शृंगार रस की सृष्टि ही अभीष्ट है। रति-क्रीड़ा, नख-शिख तथा ऐसे ही अवान्तर प्रसंग भी शृंगार सम्बन्धी ही हैं। यद्यपि प्रिथीराज ने अपने प्रारम्भिक कथन में पुरुष की तुलना में नारी के त्याग की सराहना करते हुए उसकी महानता का बखान तो किया है, पर रुक्मिणी के रूप में नारी का वर्णन केवल उसके दैहिक आकर्षण का ही है। उसके शील, समर्पण आदि गुणों की यत्किंचित् झलक ही दिखाई गई है। रुक्मिणी को लक्ष्मी रूप में मानते हुए भी कृष्ण के प्रति उसका समर्पण और अनन्य प्रेम-भक्ति की भावना ही प्रतिपाद्य विषय बन पाये हैं। इसलिए शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों का निरूपण वेलि में नहीं खोजा जाना चाहिए। कवि के लिए अन्य रस अभिप्रेत भी नहीं हैं।

युद्ध-वर्णन करते हुए प्रिथीराज अपने उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षादि अलंकारों का मोह नहीं त्याग पाए हैं। वर्षा के सांग रूपक द्वारा युद्ध का औपचारिक वर्णन मात्रा सम्भव हुआ है—

> कांपियां उर कायरां असुभकारियौ, गाजंते नीसाणे गड़ड़ै।
> ऊजळियां धारां ऊवड़ियौ, परनाळे जळ रुहिर पड़ै॥

(बादल की गरज सुनकर जैसे कायर-हृदय लोग डरते हैं, उसी प्रकार युद्ध के नगाड़ों की गम्भीर ध्वनि से भी वे डर रहे हैं। जैसे वर्षा में उज्ज्वल जल-धाराओं से बरसता हुआ जल प्रणाल-मार्ग से नीचे पड़ता है, वैसे ही उज्ज्वल खड्ग-धाराओं से रुधिर गिर रहा है।)

वर्षा के इस रूपक को कवि ने कृषि-कर्म से संयुक्त कर खेत जोतने, बोने, फसल उगने, काटने और संग्रह करने तक की क्रियाओं को रूपकबद्ध कर दिया है। इस प्रकार परम्परागत होते हुए भी युद्ध का वर्णन वर्षा और कृषि के साथ तद्-रूप बना दिया गया है। युद्ध और वर्षा एवं कृषि, दोनों ही पक्ष राजस्थान के अपने एवं प्रिय विषय रहे हैं। कहना न होगा कि युद्धों के इस प्रकार के रूपकबद्ध वर्णन डिंगल कवियों को अत्यन्त प्रिय रहे हैं। इसी वर्णन में आगे जाकर दो-

तीन छन्दों में लोहार का रूपक भी दिया गया है। पर ऐसे रूपकों से हट कर जहाँ भी कवि ने स्वाभाविक उक्ति कही है, वहाँ वह सराहनीय बन पड़ी है। रुक्मिणी का यह कथन उदाहरण है—"अबळा लेइ घणी भुई आयौ, आयौ हूँ पग मांडि अहीर।" (१३०)—(अबला को लेकर तू बहुत दूर भाग आया है, अब मैं आ गया हूँ, हे अहीर, सामने आ।)

प्रकृति-वर्णन प्रायः रूढ़िग्रस्त ही है। प्रभात में शशि का स्तेज होना, शंख-भेर आदि का शब्दित होना, रात्रि में मिलने वालों का विछोह होना और दिन में मिलनेवालों का मिलन होना—जैसे सपाट वर्णन मात्र हैं। इसी प्रकार षड्ऋतु के प्रसंग में भी पारंपरिकता ही का वर्णन है। बसंत ऋतु का एक पृथक् वर्णन संगीत की महफिल के रूपक का है और ऋतुराज तथा शासक का सांग रूपक भी उसके साथ ही है। दक्षिण पवन का उन्मत्त पुरुष का रूपक, कवि की कल्पना-शक्ति और सूक्ष्म अध्ययन का अच्छा परिचायक है। यदि रूपकों का ऐसा बेहद मोह न होता तो प्रिथीराज का काव्य अधिक भाव-प्रवण हो सकता था। किन्तु इन अलंकृत वर्णनों में भी उनके कवि हृदय ने उपयुक्त अवसर हाथ से जाने नहीं दिए हैं। शरद के वर्णन में, घरों में कार्तिक मास में जलाए गए दीपकों की बाहर झलकती आभा की उपमा मन में लजाती हुई सुहागिन स्त्रियों के मुखों से देकर, बड़ी भाव-प्रवणता दिखाई है—

> दीधा मणि मँदिरे कातिग रे दीपक, सुत्री समाणियाँ माँहि सुख।
> भीतर थका बाहर इम भासै, मनि लाजती सुहाग मुख॥

इसी प्रकार, हेमंत में शीतातिशय के कारण नर और नारी के आलिंगनबद्ध होने का वर्णन भी है—

> उळझाया तन-मन आप-आप में, विहृत सीत रुखमिणी वरि।
> वाणि अरथ जिम सकति सकतिवंत, पुहप अंध गुण गुणी परि॥

(रुक्मिणी और कृष्ण शीत को दूर करने के लिए अपने तन और मन उलझा कर इस प्रकार एकाकार हो गये मानो वाणी और अर्थ, शक्ति और शक्तिवंत, पुष्प और गंध तथा गुण और गुणी एकीकृत भाव में स्थित हों।)

सुरतांत की छबि के ये दो छन्द प्रिथीराज जैसे रसिक की कलम से ही सम्भव थे—

> श्रीवदन पीतता चित व्याकुलता, हिये धगधगी खेद हुइ।
> धरि चख लाज पगे नेउर धुनि, करे निवारण कंठ कुह॥

बदन में पीलापन, चित्त में व्याकुलता, रतिश्रमजन्य हृदय की धड़कन व स्वेद, नेत्रों में लज्जा, नुपूर ध्वनि और कंठों के मधुर शब्दों का निवारण—रति क्लांता रमणी का बड़ा स्वाभाविक चित्रण है।

तिणि ताळि सखी गळि स्यामा ते ही, मिळी भमर भारा जु महि।
वळि ऊभि थई घणा घाति बळ, लता केळि अवलंब लहि।।
(भ्रमरों के भार से भूमि पर पड़ी बेल को जिस प्रकार कदली-खम्भ के सहारे टेढ़ी-मेढ़ी करके ऊपर चढ़ाया जाता है, उसी प्रकार कृष्ण रूपी भ्रमर के रति-क्रीड़ा रूपी भार से शय्या-रूपी भूमि पर शिथिल पड़ी रुक्मिणी-रूपी वेलि को सखी-रूपी कदली खम्भ के सहारे बल खाती हुई देहयष्टि से खड़ा किया गया।)

रस वर्णन में भ्रमर, वल्ली, शय्या-भूमि आदि के उपमानों के साथ रतिक्लांता रुक्मिणी के शिथिल अंगों का लचकना, अर्थ की गरिमा को प्रकट करता है।

नख-शिख वर्णनों में भी इस प्रकार की कमनीयता के कई स्थल हैं। सदनों के भीतरी भागों में जलती हुई दीपमाला का बाहर प्रस्फुटित होता प्रकाश कवि को बड़ा प्रिय है। रुक्मिणी के नील कौशेय वसन में से झाँकते हुए रत्नजटित आभूषणों की द्युति को कामदेव की दीपमाला के प्रकाश से उपमित किया गया है—

अंतर नीळंबर अबल आभरण, अंगि-अंगि नग-नग उदित।
जाणे सदनि-सदनि संजोई, मदन दीपमाळा मुदित।।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि कितना भी भाव-प्रवण कवि क्यों न हो, उसे अपनी परम्परा और समसामयिकता से भी जुड़ा रहना पड़ता है। इसलिए वेलि के सभी वर्णनों में रस-निष्पत्ति की खोज करते समय इन तथ्यों को भी ध्यान में रखना होगा।

काव्य-रूढ़ियाँ

किसी भी कवि के लिए, चाहे वह कितना भी प्रतिभाशाली क्यों न हो, अपनी परम्पराओं से नितान्त पार्थक्य रखना संभव नहीं, पर जब वह परंपरागत कवि-समयों से अपने आपको जकड़ लेता है तो उसकी रचना प्राणहीन हो जाती है। अधिकांश रीतिकालीन कवियों को इन्हीं काव्य-रूढ़ियों ने उच्च कोटि के कवित्व से वंचित रखा था। इस दृष्टिकोण से वेलि में काव्य रूढ़ियों को खोजना इसलिए भी आवश्यक है क्योंकि ऐसा करने से प्रिथीराज की मौलिकता को अधिक स्पष्ट किया जा सकेगा। यद्यपि काव्य-रूढ़ियों की यह खोज इतनी सरल नहीं है, पर मोटे तौर पर कुछ रूढ़ प्रयोगों का उल्लेख किया जा सकता है: मानसरोवर में हंस-क्रीड़ा, बत्तीस लक्षण युक्त स्त्री, तारों में चन्द्रमा की तरह सखियों में राजकुमारी, नयन-कमल, कोकिल-कंठ, भ्रमर रूपी भौंहें, दीप नासिका, मुख चन्द्र, कुच-कुंभस्थल, करभ जंघ, वर-प्राप्ति के लिए गौरी-पूजा, प्रोळि पर तोरण, नगाड़ों की घनगर्जना, काजल-मसि से नख द्वारा पत्र-लेखन, जालियों में से पथिकों को देखना, सरोवरों पर पनिहारिनों का समूह, घर-घर में यज्ञ, प्रत्येक मार्ग में आम्र-

वृक्ष, और प्रत्येक आम्र में कोकिल कूजन, स्वप्न या जागृति के भ्रम का आभास, अवतारों द्वारा उद्धार के वर्णन, पूजा के लिए देवी के मंदिर में जाना, चलदल की तरह चित्त का काँपना, नख-शिख शृंगार (इनमें अनेक रूढ़ियों का समावेश है), आभूषणों से युक्त सुन्दरी की कवचयुक्त योद्धा से उपमा, पहाड़ों की तरह बड़े काले हाथी, हाथियों की मदगलित चाल, सौन्दर्य को देखकर लोगों का मूर्छित होना, आदि।

ऐसी शताधिक काव्य-रूढ़ियाँ वेलि में हैं। पर कवि का कौशल इसी में है कि उसने रूढ़ियों को किस नवीनता के साथ प्रयुक्त किया है।

कवि की बहुज्ञता

प्रिथीराज ने स्वयं उचित गर्व के साथ कहा है कि उसके काव्य का अर्थ करने के लिए संस्कृत और प्राकृत भाषाओं, ज्योतिष, वैद्यक, योग, पुराण, संगीत, तर्क-शास्त्र आदि विद्याओं के साथ-साथ चारण, भाट आदि कवियों के परम्परागत काव्य-कौशल की जानकारी भी अपेक्षित है—

ज्योतिषी, वैद, पौराणिक, जोगी, संगीती, ताराकिक सहि।
चारण, भाट, सुकवि भाखाचत्र, करि एकठा तो अरथ कहि॥

इस उक्ति के लिए प्रमाण रूप में वेलि के अनेक छन्द उद्धृत किए जा सकते हैं, जिनमें कवि ने अपने तत्तद्विषयक ज्ञान का परिचय दिया है। भागवत आदि पुराणों के अध्ययन से वेलि की कथा ली गई है और अवतारों आदि के वर्णन भी पौराणिक ज्ञान के साक्षी हैं।

भारतीय वाङ्मय के सम्यक् अध्ययन के बिना ऐसा उच्चस्तरीय शास्त्र-सम्मत वर्णन असम्भव है। इसलिए संस्कृत आदि के काव्यों का अध्ययन कवि ने अवश्य किया होगा, यह मानना पड़ता है। लोकाचार और संभ्रान्त परिवारों के शिष्टाचार की छाप भी स्थान-स्थान पर उपलब्ध है। स्वयं एक उच्चकुलीन क्षत्रिय होने के कारण अनेक युद्धों में कवि ने भाग लिया था, इसलिए युद्ध का उसका वर्णन भी तथ्यपूर्ण और स्वाभाविक है। वैवाहिक संस्कार-वर्णन में भी लोका-चार का ज्ञान प्रदर्शित है। ऋतुराज की महफिल में संगीत का, वसंत के राजा रूप में राजकीय शासन का, प्रकृति एवं ऋतु-वर्णन में वनस्पति एवं प्रकृति-विज्ञान का तथा माहात्म्य-वर्णन में आयुर्वेद, तंत्र-मंत्र, ज्योतिष, योग, भक्ति आदि के ज्ञान का परिचय मिलता है। प्रिथीराज की बहुज्ञता और नाना भाँति की विद्वत्ता के बहुसंख्यक स्थल सरलता से खोजे जा सकते हैं। वास्तव में इसके सांस्कृतिक पक्ष को सबल करनेवाले ये वर्णन वेलि के महत्त्व को द्विगुणित कर देते हैं।

वेलि की विशेषता

वेलि की विशेषता न तो उसके कथानक में है और न रूढ़िगत वर्णनों में। भक्ति की महिमा भी कथा-भाग से बाहर के छन्दों में ही बखानी गई है। मध्य-कालीन कवियों के प्रिय 'वीर रस' का भी इसमें अभाव ही है। पर एक शृंगार-काव्य के रूप में, और वह भी उच्च स्तरीय शिष्ट-शृंगार, जो देव-प्रसंग से अधिक पवित्र और शोभा-गरिमा से युक्त हो गया है, वेलि अपने युग की अद्वितीय रचना कही जानी चाहिए। एक छोटा-सा खण्ड-काव्य होने पर भी इसमें मध्यकालीन समाज, संस्कृति, लोकाचार और शिष्टाचार की बहुमूल्य सामग्री है। इसके सरस प्रसंगों में एक भावुक और कल्पना के धनी बहुज्ञ रचना-कार का कौशल झलकता है। रूढ़ियों को भी नए आवरण और साज-सज्जा में प्रस्तुत करते हुए कवि ने बहु संख्यक मौलिक उद्भावनाएँ की हैं। अर्थगाम्भीर्य को दरसाने वाली आर्थी व्यंजना से ओत-प्रोत उक्तियों ने वेलि को अपने समय की उत्कृष्टतम रचना बना दिया है। वेलि की भाषा में डिंगल के ओज और माधुर्य के साथ-साथ संस्कृत के तत्सम और तद्भव तथा देशज शब्दों की स्वाभाविकता दर्शनीय है। ऐसी भाषा प्रिथीराज के अतिरिक्त कोई अन्य राजस्थानी कवि नहीं प्रस्तुत कर सका। इन्हीं विशेषताओं के कारण युग के सभी सृजनधर्मा कवियों तथा शीर्षस्थ आलोचकों ने वेलि की प्रशंसा की है।

वेलि की टीकाएँ और प्रशस्तियाँ

समूचे राजस्थानी वाङ्मय में संभवतः प्रिथीराज की वेलि ही एकमात्र ऐसी रचना है, जिसकी इतनी अधिक टीकाएँ हुई हैं और जिसे साहित्यकारों तथा अन्यान्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों द्वारा इतनी प्रशस्तियों से विभूषित किया गया है। यहाँ हम उन सबकी प्रासंगिक चर्चा करना चाहेंगे।

टीकाएँ (ढूँढाड़ी टीका)

कहा जाता है कि ढूँढाड़ी टीका के नाम से जो रचना ज्ञात है, वह बारठ लाखा की लिखी हुई है और वही 'वेलि' की सर्वप्रथम टीका भी है। विद्वानों ने इसका रचनाकाल संवत् १६७३ माना है और इसकी भाषा को पूर्वी राजस्थानी (ढूँढाड़ी) का रूप बताया है। लाखा अकबर के सन्निकट रहे माने जाते हैं और प्रामाणिक इतिहासों में भी इनके सम्बन्ध में प्रसंग उपलब्ध हैं। इस दृष्टि से लाखा प्रिथीराज से आयु में कुछ बड़े ही होने चाहिए। प्रिथीराज का देहान्त संवत् १६५७ में माना जाता है, जब वे ५०-५१ वर्ष के थे। इस प्रकार, यह टीका प्रिथीराज की मृत्यु के १६ वर्ष पश्चात् लिखी जानी चाहिए। यदि उस समय प्रिथीराज जीवित रहते तो उनकी आयु ६६ वर्ष की होती। लाखा की आयु भी इससे अधिक ही रही होगी। उतनी बढ़ी हुई आयु में टीका लिखने की बात कम समझ में आती है, यद्यपि असम्भव तो नहीं कही जा सकती। वेलि की रचना भी संवत् १६३७ से १६४४ के बीच में मानी जाती है, अतः लगभग १५-२० वर्ष बाद उसकी टीका होना भी विचारणीय है। यह भी सम्भव है कि यह टीका का रचनाकाल न होकर उसका लिपिकाल ही रहा हो। जहाँ तक टीका के कर्ता का प्रश्न है, वह टीका के मंगलाचरण में दिए गए निम्नलिखित संस्कृत श्लोकों से निश्चित ही समझा जा सकता है—

ध्यात्वा श्री गुरुपाद पदयुगलं, श्री मन्मुरारैः पदां।
वल्या प्रारभ्यते जन प्रियकरी टीका लाखाख्यः कविः॥
नत्वा कवीन्द्रान् सर्वज्ञान्, प्रार्थना सिद्धिदायकान्।
लाखाख्येनापि सुधिया वेल्लि टीका प्रतन्यते॥

लाखा की यह टीका गद्य है, जिसमें पूर्वी राजस्थानी की 'का' विभक्ति का प्रयोग किया गया है। जहाँ तक सहायक क्रिया 'छै' का प्रश्न है और जो 'ढूँढाड़ी' की अपनी विशेषता बन कर बची रह गई है। यह ध्यान देने योग्य है कि 'छै' का प्रयोग समान रूप से समूचे प्राचीन गद्य में होता आया है। ब्रजभाषा के 'टीका गद्य' का भी प्रभाव इस पर है, यथा 'ताको' जो 'तींको' या 'तींरो' 'तिणरो' के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। डा० तेस्सितोरी ने एक और टीका का उल्लेख किया है, जो पश्चिमी मारवाड़ी में लिखी गई थी और जिसकी वे लाखा द्वारा निर्मित होने की सम्भावना प्रकट करते हैं। उनका यह भी मानना है कि ये राजस्थानी टीकाएँ प्रिथीराज के समकालीन रही हो सकती हैं।

सुबोध मंजरी टीका

यह संस्कृत टीका जैनाचार्य पद्मसुन्दर के शिष्य वाचक सारंग ने वि० संवत् १६७८ में पालनपुर (गुजरात) में लिखी थी। टीकाकार सारंग ने यह दावा किया है कि बारठ लाखा की टीका 'बालावबोध' मात्र है। उसमें अर्थोक्ति-पटुत्व का अभाव है। इसीलिए यह संस्कृत टीका की जा रही है। सारंग के वे संस्कृत श्लोक निम्न प्रकार हैं—

> लाक्षाभिधेन भाषायां चतुरेण विपश्चिता।
> चारणेन कृतो बालावबोधोऽर्थं सुलब्धये॥
> परं न तादृगर्थोक्ति-पटुत्वं वितनोत्ययम्।
> तेन संस्कृत-वाग्-युक्तां टीकामेनां करोम्यहम्॥

वनमाली बालवबोध

यह टीका खरतरगच्छीय समयसुन्दर के शिष्य हर्षनन्द के शिष्य श्री जयकीर्ति द्वारा राजस्थानी गद्य में लिखी गई थी। इसका काल सूचक छन्द इस प्रकार है—

> सह सोलह छासीयइ वरस मगसिर वर मासइ।
> वीकानयरि महाराय राजि सुरिजसिंह हरसइ॥

संवत् १६८६ में बीकानेर में ही इसकी रचना की गई। जयकीर्ति ने अपने पूर्ववर्ती टीकाकारों—लाखा बारठ तथा सारंग—का उल्लेख भी किया है। लाखा की टीका को 'वारतिक' कहा है और उसे अर्थ को स्पष्ट करने में अक्षम बताया है। सारंग की टीका को उसने 'विषम' अर्थात् क्लिष्ट बताया है। ऐसा कह कर उसने अपने द्वारा टीका करने के प्रयास का औचित्य सिद्ध किया है। जयकीर्ति का वह कथन इस प्रकार है—

सरसति माता समरिनइ, प्रणमी सद्गुरु पाय।
वनमाली वल्ली तणी, वात कहूँ विगताय ॥
चावउ जगिभाषा चतुर, चारण लाखउ चंग।
कीघउ पहिली वारतिक, अरथि न उपजइ रंग ॥
ग्वालेरी भाषा गुपिल, मंद अरथ मित भाव।
वातबंध किय भाषविउ, समझण तिण समभाव ॥
चतुर विचक्षण चतुर मति, रवि तकि पंडित राय।
सकल विमल भाषा सुधी, कवि सारंग कहाय ॥
जिणकरि भाषा जोर करि, संस्कृत भाषि सुजाण।
अरथ कह्यउ लागइ विषम, वदइ न मंद वषाण ॥
गीरवाण भाषा भागवत, वल्लीजनक सुबीज।
कारिज हुँ कारण कहूँ, उपजइ जउ इम कीज ॥

इससे यह भी स्पष्ट होता है कि किसी गोपाल नामक टीकाकार ने ग्वालेरी भाषा में भी कोई टीका की थी, जो अर्थ और भाव को स्पष्ट नहीं कर पायी।

नारायणवल्ली वालाववोध

खरतरगच्छीय कल्याणलाभ के शिष्य कुशलधीरगणि ने यह टीका संवत् १६९६ में अपने शिष्य भावसिंह के लिए लिखी थी। इस उल्लेख के छन्द निम्न प्रकार हैं—

सोलहसो छिन्नवइ, मास आसू शुभ मासइ।
विजयदसमी गुरुवार, एह विवरण उल्हासइ ॥
कहइ कुशलधीर पृथुदास कृत, वनमाली वल्लीतणउ।
बालावबोध जगि वांचतां, घणीभूमि प्रसरउ घणउ ॥
कनक विमल शुभ कम्म, सहु सयणा सलहिज्जइ।
शिष्य मुख्य सुविचार, भावसिंह मुज्झ भणिज्जइ ॥
आग्रह कीधउ अधिक, वेलि चउ विवरण किज्जइ।
श्रीकृष्ण वेलि विवरण सकळ, कुशलधीर वाचक कहइ ॥
जे भणइ गुणइ मनसुधि सुणइ, लीला लखमी ते लहइ।

श्रीसार की संस्कृत टीका

खरतरगच्छीय रत्नहर्ष के शिष्य श्रीसार ने द्रविड़ कृष्णानन्द के लिए लाहौर में संवत् १७०३ में यह संस्कृत टीका लिखी। उस समय शाहजहाँ का शासन काल था। टीकाकार ने दुरसा आढा कृत माने जाने वाले प्रशस्ति-छन्द का भी उल्लेख किया है। सम्बन्धित अंश इस प्रकार है—

अश्रोषीदेकदाविज्ञां कृष्णानन्दो द्विजाग्रणीः।
एवं वल्याः समुत्पत्तिः श्रीसारमुखादयं ॥ × × ×
श्रुत्वा वल्लीतिनामानं ग्रंथं सर्वरसप्लुतम्।
टीकां सुटीकां तस्याथ, कृष्णानन्दोह्यचीकरत् ॥ × × ×
प्रताप तपनाश्यात् दिग्मंडल महोदयं।
श्री साहिजहां साहि, राज्यं जयतु सर्वदा ॥ × × ×
चन्द्रगच्छ क्षीरवृक्षं क्षेमशाखा विलासिनः।
वाचकः श्री रत्नहर्ष यति हंस जयंतु ते ॥

लक्ष्मीवल्लभ का बालावबोध

अठारहवीं शताब्दी में श्री लक्ष्मीवल्लभ नामक प्रसिद्ध जैन विद्वान ने यह बालावबोध बनाया। यह क्षेम शाखा के वाचनाचार्य लक्ष्मी कीर्तिगणि के शिष्य थे।

गोपाल लाहोरी का ब्रजभाषानुवाद

किसी 'मिरजाखान' की आज्ञा से गोपाल ने **'रसविलास'** नामक यह अनुवाद ब्रजभाषा में प्रस्तुत किया। इसका उल्लेख संवत् १६८६ में जयकीर्ति ने किया है, अतः यह उसके पूर्व की रचना होनी चाहिए। अनुवादक ने मरुभाषा को 'निर्जल' कहकर उसकी निन्दा करते हुए भी मरुभाषा में लिखी इस 'वेलि' का अनुवाद किया है। यह अनुवाद सामान्य कोटि का समझा गया है। टीकाकार का कथन निम्न प्रकार है—

आग्या मिरजाखान की लई करी गोपाल।
'वेलि' कहे का गुन यहै कृष्ण करौ प्रतिपाल ॥
मरुभाषा निर्जल तजी, करि ब्रजभाषा चोज।
अब गोपाल यातैं लहै, सरस अनूपम मोज ॥
कवि गोपाल यह ग्रंथ रचि, लायो मिरजा पास।
'रसविलास' दे नाउं उनि, कवि की पूरी आस ॥

इनके अतिरिक्त भी वेलि की अनेक टीकाएँ लिखी गई थीं, जिनकी छानबीन की जानी है। हस्तलिखित ग्रन्थागारों में वेलि की सैकड़ों प्रतियाँ मूल पाठ, सटीक, सचित्र आदि रूपों में प्राप्त हैं। संभवतः किसी भी अन्य राजस्थानी ग्रंथ का इतना व्यापक प्रचार कभी नहीं हुआ। ज्ञात व अज्ञातकर्तृक टीकाओं में कुछ विशिष्ट नाम ध्यान देने योग्य हैं। इनका उल्लेख ग्रन्थागारों से प्राप्त सूचनाओं के आधार पर किया गया है।

(१) संवत् १७५० में भुजनगर में कक्क द्वारा लिखित संस्कृत टीका। यह वाचक सारंग कृत सुबोधमंजरी टीका पर आधारित बताई जाती है।

(२) शिवनिधान कृत बालावबोध, जो संवत् १७३८ में लिपिबद्ध किया गया। इसे 'टव्वा' भी कहा गया है।

(३) वाचक सदारंग कृत टीका (अनूप संस्कृत लाइब्रेरी ग्रन्थांक ६/१३) लिपिकाल संवत् १६८३। यह टीका सम्भवतः वाचक सारंग की ही है, जिसे मूल में सदारंग लिख दिया गया है।

(४) गुजराती टीका (अनूप संस्कृत लाइब्रेरी ग्रन्थांक ८/७) लिपि संवत् १६९७।

(५) पुरोहित लक्ष्मण कृत टीका (अनूप संस्कृत लाइब्रेरी ग्रन्थांक २०/२०) इसे वरसलपुर में लिखा गया था।

(६) दानचन्द्रकृत टवार्थ टीका (अभय जैन ग्रन्थालय, संख्या ३३/४८५) यह संवत् १७२७ में नागौर में लिपिबद्ध हुई थी।

(७) मेवाड़ी टीका—इसे सरस्वती भंडार, उदयपुर में महाराणा जगतसिंह के राज्यकाल में कवि नंदराम ने लिखवाई थी।

आधुनिक काल में भी डॉ० एल० पी० तेस्सितोरी ने तथा उनके बाद अनेक संपादकों ने वेलि के अर्थ प्रस्तुत किये हैं। इनमें सर्वश्री जगमालसिंह, सूर्यकरण पारीक तथा रामसिंह, नरोत्तमदास स्वामी, आनन्द प्रकाश दीक्षित, कृष्णशंकर शुक्ल एवं नटवरलाल इच्छाराम देसाई (गुजराती) के नाम उल्लेखनीय हैं।

प्रशस्तियाँ

प्राचीन राजस्थानी साहित्य में आधुनिक आलोचना की भाँति कोई पृथक् विधा विकसित नहीं हुई थी। यह काम टीकाकारों के ही जिम्मे छोड़ दिया गया था, जो सम्पूर्ण पाठ की व्याख्या करते समय यदा-कदा उसके गुण-दोषों की चर्चा कर देते थे। निजी रूप से कवि-पंडित ऐसी चर्चा अवश्य करते होंगे, पर उन्हें कभी लिपिबद्ध नहीं किया गया। हाँ, प्रशस्तियों के रूप में कुछ विचार पारम्परिक रूप में अवश्य प्रकट किए गए हैं, जिन्हें आलोचना के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता। प्रसिद्ध कवियों की विशेषताओं की प्रशंसा संस्कृत युग से ही होती आई है। जिस प्रकार कालिदास, वाल्मीकि, भवभूति, माघ, भारवि आदि कवियों की विशिष्टताएँ संस्कृत कवियों ने बखानी हैं, उसी तरह राजस्थानी कवियों ने भी प्रशस्तियाँ की हैं। इस प्रकार की कुछ उक्तियाँ निम्न प्रकार मिलती हैं—

"कवितै अलू दूहै करमाणंद, पात ईसर विद्या चो पूर।
छंदे मेहो, झूलणे मालो, सूर पदे गीते हरिसूर॥"
"गीत गीत हुकमीचंद कह्यौ, हमै गीतड़ी गावौ।"
"शंकरियैं सामोर रा गोळी हंदा गीत।"

"सागरसिद्ध कबेसर हुकमो, नृपति महेस हरो बुधवान ।
च्यार पदारथ आछा चारण, उरा लिया पाछा भगवान ।।"

ऐसी ही अन्य अनेक उक्तियाँ स्फुट रूप में प्राप्त हैं ।

पर प्रिथीराज के काव्य को जिन प्रशस्तियों से विभूषित किया गया, वैसा किसी अन्य कवि या उसकी रचनाओं के साथ नहीं घटित हुआ। यहाँ उन प्रशस्तियों की बानगियाँ प्रस्तुत की जा रही हैं।

गाडण रामसिंह

रुखमणि गुण रचण सिंगार महारस, वेद बीज तसि वाण वखाण ।
पांचमो वेद भाखियो पीथा, पढियो उगणीसमों पुराण ।।१।।
केवळ भगत अथाह कलावत, तैं ज किसन चो गुण तवियो ।
चिंहु पांचमों निगम चाळवियो, नवदसमों ग्रंथ नीगमियो ।।२।।
म्हैं कहियो हरिभगत प्रथीमल, स्रवणे वयण कहण ततसार ।
रामो कहै पीथा महाराजा, आखर व्यास तणो अवतार ।।३।।

इस गीत को अनूप संस्कृत लाइब्रेरी के एक गुटके में गाडण रामसिंह का कहा बताया गया है। गीत की अन्तिम पंक्ति में 'रामो' का उल्लेख भी है। पर कुछ विद्वान इसे दुरसा आढा कृत ही मानते हैं। दुरसा कृत गीत में प्रथम पंक्ति तथा अन्तिम दो पंक्तियाँ कुछ भिन्न हैं, जो इस प्रकार हैं—

रुकमणि गुण लखण रूप गुण रचवण, वेलि तास कुण करै बखाण ।
अगम अगोचर अति अचड़
व्यास तणा भाखिया समोवड़, ब्रह्म तणा भाखिया वड ।।

इस प्रकार यह विवाद अभी अनिर्णीत ही समझा गया है।

मोहनराम

रुकमणी तणी वेलि पृथीमल रची, उदधिवास कीधो उदरि ।
बुधि गजमुख बोलिवै बिदुखा, पुणिया वाइक व्यास परि ।।१।।
श्रवणै ब्रह्म सबद तको सांचरियो, नयण अरक इंद उभै निवास ।
हरि कर मौलि, ध्यान हरि समहरि, अवळि दीपवै तणौ उजास
विसजाणण ब्रह्म उकति ताइ वंधी, बाहु हणूं भणिया तौबीर ।
रति खट अंगि उरमा(ळ) सुरत्ती, धरणी अक्खिर मेर सधीर ।।३।।
पठिवै गंग प्रवाह प्रवाणी, सुणतां अम्रित पान समथ ।
मांड प्रभू री मथ ग्रथ माखण, परगट कीधी लता प्रथ ।।४।।

वारठ लाखा

वपि वाधै नितू विराजै अविरल, भले विन्हु विध उर नवली भाँति।
प्रभु सूं जेतो हेत प्रथीमल, पै सरसो ततो पुरसाति ॥१॥
राजै राव राठोड़ प्रथीरज, रूड़ै अंगि रूड़ी वे रीत।
प्रीत जिसी सरस जगतपति, पैसो जिसी खत्रीपण प्रीत ॥२॥
अधिको नित कलियाण अंगोभव, उभै विधि अधिकार अछेह।
व्है जिम तूझ सनेस सरिसहर, सुसतिय तो सरिस सनेह ॥३॥
विध बिहुं रिध की जैत वंसोधर, धारण हेकण व्रवण धन।
मनि तूं अूवरै, सुरे न मावै, मछर न अूबरै नरेमन ॥४॥

वारठ लाखा कृत ढूँढाडी टीका से

कितरा आगै वड़ कवी, पुणिया प्रभु जस पेस।
चोज ओपमा चातुरी, वकत्या प्रथ आदेस ॥१॥
नारायण तणो काव्य वड नीको, वाखाणण चौ करि विस्तार।
चोज कमध कवि चढ़ी ओपमा, नमो पीथ नित उकति अपार ॥२॥

भोजक जादव

वेद वीज जळ बयण, सुकवि झड़ मंडी सधर।
पत्र दुहा गुण पुहप, वास भोगी लिखमीवर।
पसरी दीप प्रदीप, अधिक गहरइ आडंबर।
जे जंपइ मन सुद्धि, अंनफळ पामै अन्तर।
विस्तार कीध जुग-जुग विमळ, धणी किसन कहिणार धन।
अमृत वेलि पीथल अचळ, तैं रोपी किल्याणतन ॥

नाभादास (भक्तमाल से)

सवैया गीत सलोक, वेलि दोहा गुण नवरस।
पिंगल काव्य प्रमाण, विविध विधि गायो हरिजस ॥
परिदुख विदुख सलाघ्य, वचन रचना जु उचारै।
अर्थ विचित्र निमोल, सबै सागर उद्धारै ॥
रुकमिणी लता वरणन अनुप, वागीस-वंदन कल्याणसुव।
नरदेव उभै भाखा निपुण, पृथ्वीराज कविराज हुव ॥

राघवदास (भक्तमाल से)

अपणौ इष्ट बखांणि, मनोक्रमवचन रिझायौ ।।
वरणि वेलि विसतार, गिरा रुचि गोविन्द गायौ ।
सहस सवइया गीत, कवित छंद गूढा गाहा ।
वरन्यौ रूपसिंगार, भक्ति करि लीन्हौं लाहा ।
जनराघो स्यांम प्रताप तैं, यम आगम जान्यौ भूत भवि ।
इह बड़ी रहणि राठौर की, पृथी परि पृथीराज कवि ।।

श्रीसार कृत संस्कृत टीका से

पृथ्वीराजः प्रसिद्धो जगति गुणनिधा राजराजा कवीनां ।
समावल्लीति नाम्नीं हरिचरितयुक्तां राजगीतां चकार ।।
पृथ्वीराजावतारेण भक्तानुग्रह काम्यया ।
स्वयं नारायणः स्वस्य जगादचरितं हितं ।।
दाता भोक्ता हरेर्भक्तिः कर्ता शास्त्रस्य शास्त्रवित् ।
पृथ्वीराज समोराजा न भूतो न भविष्यति ।।
श्रुत्वा वल्लीतिनामानं सर्वरसाद्भुतं ।
टीका सुटीकां तस्याथ कृष्णनंदोह्यचीकरत् ।।

स्फुटकाव्य

वेद च्यार नव व्याकरण, गुण चौरासी गूठ ।
तैं मृत प्रथ कल्याणतन, अब गई मजलस ऊठ ।।
कंठ सरस्वती नूर मुख, पिंड पौरख उर राम ।
तैं भंगि प्रथ कल्याणतन, चहुं विलंबण ठाम ।।
अस लीलो पिव पीथलो, चंपावती ज नार ।
अै तीनू ही एकठा, सिरज्या सिरजणहार ।।

प्रिथीराज का कृतित्व

किसी भी कलाकार के कृतित्व का मूल्यांकन उसके कलापक्ष और भावपक्ष के समन्वित स्वरूप पर ही अवलम्बित है। जो बात तक्षण और चित्रण के लिए है, वही साहित्य के लिए भी लागू होती है। काव्य-साहित्य में भी शब्द-संयोजन, छन्द-रचना और अलंकारों का कलापक्ष, भावपक्ष को उजागर करने में सहायक होता है। यदि भावपक्ष निरे हल्के स्तर का हो तो भी कलापक्ष की सुदृढ़ता उसे कुछ सीमा तक टिकाये रखने में समर्थ होती है। इस दृष्टि से कलापक्ष की सबलता अपेक्षित है। इसके विपरीत यदि कला-पक्ष के अंगोपांग --शब्द-संयोजन, छन्द-गठन आदि—दोष-युक्त होंगे तो भाव-पक्ष श्रेष्ठ होते हुए भी भावक पाठक तक उसके पहुँचने में बाधा रहेगी। प्रिथीराज के कृतित्व को हम दोनों ही प्रकार से परखना चाहेंगे।

भाषा

मध्ययुगीन राजस्थानी कवियों में जिस स्तर की शिक्षा का प्रचलन था उसकी तुलना में प्रिथीराज को अधिक उच्च स्तरीय शिक्षा ग्रहण करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उनके काव्य में प्रयुक्त शब्द-रूप यह प्रकट करते हैं कि उन्हें संस्कृत, प्राकृत तथा ब्रजभाषा की समुचित शिक्षा मिली थी। ज्ञान-विज्ञान की अनेक शाखाओं से उनका परिचय भी उनके भाषाज्ञान को समृद्ध करने में कारणभूत रहा था। 'वेलि' के एक छन्द में उन्होंने स्वयं यह घोषित किया है कि जो पाठक अमुक-अमुक शास्त्रों और कलाओं का ज्ञान रखते हैं, वे ही अर्थ की गहराइयों में उतर सकेंगे—

> ज्योतिषी वैद पौराणिक जोगी, संगीती तारकिक सहि।
> चारण भाट सुकवि भाखा चत्र, करि एकठा तो अरथ कहि॥

ज्योतिष, वैद्यक, पुराण, योग, संगीत, तर्क तथा डिंगल (चारण) पिंगल (भाट) आदि भाषाओं का चातुर्य और काव्य-रचना—इन सभी का ज्ञान सम्मिलित रूप से प्रिथीराज को था। इन सभी का जो विशिष्ट प्रदर्शन प्रिथीराज ने किया है, वह तत्कालीन किसी बिरले ही कवि की कृतियों में मिल सकता है। संस्कृत और

प्राकृत साहित्य का विधिवत् अध्ययन प्रिथीराज ने अपने विद्यागुरु गदाधर व्यास से किया था। उन्हीं के पास उन्होंने संस्कृत के श्रेष्ठ काव्य ग्रन्थों का मर्म भी हृदयंगम किया होगा। उस समय के बीकानेर में ज्ञान-विज्ञान की अन्य शाखाओं के पारंगत विद्वान भी प्रचुर मात्रा में थे, जिनके साहचर्य से उन विद्याओं का भी थोड़ा परिचय उन्हें हो गया था। भक्ति-भावना की दीक्षा उन्हें बिट्ठलनाथ के चरणों में प्राप्त हुई थी और क्षत्रियत्व तथा लोक-व्यवहार के उनके आचार्य थे उनके अग्रज रामसिंह। इन सभी के प्रति प्रिथीराज ने अपनी कृतज्ञता प्रकट की है।

संस्कृत भाषा के पांडित्य तथा विविध विद्याओं के अध्ययन से प्रिथीराज का शब्द-संयोजन संस्कृतगर्भित हो गया है। 'वेलि' का एक छन्द तो पूरा का पूरा संस्कृत में ही दिया है। यह अकेला छन्द ही उनके संस्कृत ज्ञान का साक्षी बन सकता है—

कस्मात् कस्मिन् किल मित्र किमर्थ, केन कार्य परियासि कुत्र।
ब्रूहि जनेन येन भो ब्राह्मण, पुरतो मे प्रेषितम् पत्र॥

संस्कृत भाषा और शास्त्रीय ज्ञान की यह झलक रुक्मिणी के शिक्षा प्रसंग में भी दरसाई गई है—

व्याकरण पुराण समृति सासत्र विधि, वेद च्यारि खट अंग विचार।
जाणि चतुरस चौसठि जाणी, अनन्त-अनन्त तसु मधि अधिकार॥

यह परिगणन ही कवि के सम्यक् ज्ञान का परिचायक हो सकता है। कवि ने अपने आराध्य 'कृष्ण' तथा उनकी प्रिया पत्नी को श्रेष्ठज्ञान से सम्पन्न चित्रित किया है।

संस्कृत के कुछ ऐसे शब्दों की चर्चा करके, जो प्रायः राजस्थानी कवियों ने प्रयुक्त नहीं किए हैं, यह प्रमाणित किया जा सकता है कि प्रिथीराज की भाषा अन्य कवियों की तुलना में अधिक संस्कृतगर्भित है—

पुनर्भव (नख), प्रभणन्ति (कहता है), सुसा (स्वसा), आरात (समीप), प्रणपति (प्रणाम), जत्र (जहाँ), वदनारविंद (मुखकमल), अम्बिकालय (देवी का मन्दिर), चिंतातुर (चिंताग्रस्त) चलपत्र (पीपल), आसन्नौ (समीप), मुखधारणा (मुखाकृति), सन्ति (है), मनसि (मनमें), व्याज (बहाना), धौत (घुले हुए या सफ़ेद) कबरी (वेणी), करम्बित (गूँथी हुई), कठचीत्र (काष्ठ चित्र), तवति (स्तवति), समृति (स्मृति), सुषपति (सुषुप्ति), कंठसरी (कण्ठ श्री), आवरित (आवृत), क्रिसा (कृशा), चामीकर (स्वर्ण), किंज्जलक (किंजल्क)। 'वेलि' के प्रथम एक सौ पद्यों में से चुने हुए इन संस्कृत रूपों की तुलना में उन्हीं पद्यों में विदेशी भाषा के शब्द केवल निम्न प्रकार हैं—

कागळ, कसाई, दूवौ, वारगह, बाजू (बंध), गजरा॥

व्युत्पत्ति की अनिश्चितता से इनके विषय में भी ज़ोर देकर नहीं कहा जा सकता। प्रिथीराज की अन्य रचनाओं में भी देशी और विदेशी शब्दों का अनुपात इससे अधिक नहीं है। उनके दस डिंगल गीतों की प्राय: डेढ़ सौ पंक्तियों में मात्र १० विदेशी शब्द प्रयुक्त हुए हैं, जो लोक-भाषा में रमे हुए और अपरिहार्य बने हुए हैं—फौज, खूंदाळम, रायजादा, मरद, जहर, बकवाद (वास), खरच, बगतर, पतसाह, वकिया। प्रिथीराज के समकालीन व पूर्वकालीन अन्य कवियों—दुरसा आढा, सायां झूला, मीराँ—आदि में यह अनुपात कहीं अधिक है। भारतीय शास्त्रों और साहित्य के गम्भीर अध्ययन तथा धार्मिक निष्ठा के कारण ही यह भाषागत सौष्ठव आ पाया है। संस्कृत शब्दों के डिंगल रूप बनाने की प्रक्रिया अपना कर प्रिथीराज ने समूची काव्य-भाषा को एक समान वातावरण में ढालने का प्रयत्न किया है, जो किसी भी श्रेष्ठ काव्य के लिए आवश्यक है। ऐसा करते हुए भी अनेक डिंगल कवियों की-सी हठधर्मिता और दुरूहता उन्हें नहीं छू गई है। संस्कृत शब्दों से सुपरिचित साधारण पाठक उन शब्दों का रसास्वादन भली प्रकार करने में समर्थ है।

प्रिथीराज की ज्ञात रचनाओं में पिंगल अथवा व्रजभाषा की कृतियाँ नगण्य हैं। पर जो कुछ उन्होंने लिखा है, वह सिद्धहस्त कोटि का है। व्रजभाषा की स्वाभाविकता को उन्होंने छोड़ा नहीं है—

मन कहिया चित्त न करै, चित क्रित करै सु होइ।
इन दुहुवन झगरो परो, प्रिथ प्रभु करै सु होइ॥

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रिथीराज ने अपने समकालीन तथा पूर्ववर्ती व्रजभाषा-कवियों के काव्य का अध्ययन तो किया ही था, वरन् मथुरा तथा वृन्दावन में उनके सान्निध्य में भी समय विताया था। यही कारण है कि उन्हें व्रजभाषा-काव्य में यह कौशल प्राप्त हुआ।

डिंगल की अपनी परम्परा तो प्रिथीराज के रक्त में समाई हुई थी। डिंगल की जो शब्द-योजना उनके काव्य में, विशेषकर 'वेलि' में द्रष्टव्य है, वह उनके पांडित्य की साक्षी देती है। प्रिथीराज के डिंगल गीत निस्संदेह श्रेष्ठ कवियों की कोटि के हैं। संस्कृत शब्दों के डिंगलीकरण की जो कारीगरी वेलि में स्थान-स्थान पर दिखाई देती है, उसके विपरीत उनके गीतों तथा दूहों में डिंगल की प्रचलित शब्दावली का ही सरल प्रवाह है। भाषा की सबसे बड़ी कसौटी भाववहन की उसकी क्षमता से ही मानी जा सकती है। प्रिथीराज ने शृंगार, वीर, शान्त, करुण आदि रसों के वर्णनों से उस क्षमता को भली-भाँति प्रकट कर दिया है।

भाषा के सौष्ठव में लोक प्रचलित मुहावरों का समीचीन प्रयोग सदैव वांछित रहता है। इस दृष्टि से प्रिथीराज की भाषा लोक-व्यवहार के पर्याप्त

निकट लगती है। कुछ मुहावरे इस प्रकार हैं—हार्‌यां आगळ हार, वधिया घटिया विसवा वीस, लागी लेखै, घड़ी-घड़ी घड़ियाल बाजै, छांड्यो छाछ करेह, मनछा वाचा करमणा, भमरजाळ पड़ियो भमण, काला काळी धार बहसी, हूँ आयौ भवहारि, जळ काजळ भेळा, लागे नहीं लिगार, घेर्‌या घणै जणैह, झालरि रो झणकार, गंगाजळ गुटकीह, पड़ियो रहसूँ पाय, लख घट भाँजे घड़े सवा लख, ग्वाळणियाँ मिली मंगळ गायो, रुकमणी भाग सराहै राणी, माटी-माटी माँय मिळी, आयो हूं पग मांडि, जण-जण आगे जणो-जणो, त्रिणि-दीह लगन वेळा आडा।

मुहावरों की यह छटा समूचे काव्य में ही व्याप्त है, जिससे प्रसाद गुण की वृद्धि हुई है। कालिदास जैसे संस्कृत के श्रेष्ठ कवियों में भी यही प्रसाद गुण मिलता है, जो पाठक के लिए काव्य को सहज बोधगम्य बना देता है और जिसकी परिणति रसपरिपाक में फलीभूत होती है।

वर्ण्य विषय की अनुकूलता भाषा की एक ओर परख है। शृंगार की कोमल कान्त पदावली, युद्ध का ओजस्वी शब्द-संयोजन, शान्त रस के लिए विरक्ति के सृजन में समर्थ पद-रचना, प्राकृतिक वर्णनों की विशेषताओं से मेल खाता शब्द-चयन, ये सभी भाषा की सामर्थ्य को प्रकट करनेवाले होते हैं। कुछ प्रसंगों की परीक्षा करने से प्रिथीराज की भाषाविज्ञता का अनुमान लगाया जा सकता है—

वर्षा-वर्णन

> वरसते दड़ड़ नड़ अनड़ वाजिया, सघण गाजियौ गुहिर सदि।
> जळनिधि ही सामाइ नहीं जळ, जळवाळा न समाई जळदि॥

युद्ध-वर्णन

> खागझट विकट खेताहरो खेलतो, झाट झड़ि ओझड़ां वाहतो झेलतो।
> विढंतो वाढतो वीछतो वेलतो, थाट अवियाट दरबार गो ठेलतो॥

शान्तरस-वर्णन

> खाटी सो दाटी घर खोदे, साथ न चाली हेक सिळी।
> पवन ज जाय पवन विच पैठो, माटी माटी मायं मिळी॥

सखी-वर्णन

> किहि करगि कुमकुमौ कुंकुम किहि करि।
> किहि करि कुसुम कपूर करि॥

किहि करि पान अरगजौ किहि करि।
धूप सखी किहि करगि धरि ।।

नगर-वर्णन

जोइ जळद पटळ दळ सांवळ ऊजळ।
घुरै नीसाण सोइ घणघोर ।।
प्रोळि प्रोळि तोरण परठीजै।
मंडे किरि तांडव गिरि मोर ।।

वर्णन-चातुर्य

जिणि सेस सहस फण फणि फणि बिवि जिह।
जीह जीह नक्नवौ जस ।।
तिण ही पार न पायौ त्रीकम।
वयण डेडरां किसौ वस ।।

उपर्युक्त शब्द-संयोजन का सौन्दर्य वर्ण्य विषय की अनुरूपता के अनुसार ही नहीं है, बल्कि उसकी प्रभावोत्पादकता में वृद्धि करने में भी समर्थ हुआ है।

छन्द-रचना

वेलि में प्रयुक्त 'वेलियो' गीत-प्रकार के अलावा दूसरे गीतों में अन्यान्य गीत छन्दों का प्रयोग भी मिलता है। गीतों के अतिरिक्त दूहा, सोरठा, छप्पय और कुंडलिया छन्दों में भी कुछ रचनाएँ की गई हैं। ये सभी उस समय की साहित्यिक कृतियों के प्रमुख छन्द थे। छप्पय को ही 'कवित्त' भी कहते थे। दूहे की तुलना में सोरठा अधिक प्रभावोत्पादक समझा जाता था। पर प्रमुखता डिंगल गीत छन्दों की ही रहती थी। खुड़द साणोर, अराटियो, प्रहास साणोर, सपंखरों आदि प्रचलित गीत छन्द ही अधिक काम में लिये गए हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि डिंगल छन्द-शास्त्र के आचार्यों ने गीतों का नामकरण करते समय उनकी पठन-शैली और वर्णन-वैशिष्ट्य को ही ध्यान में रखा है। 'वेलियो' गीत का नामकरण भी 'वेली' अर्थात् 'साथी' के रूप में होना सम्भव है। जो गीत-भेद अधिक प्रयोग में रहता है, उसे 'साथी' या 'वेली' (वेलियो) कहना संगत भी प्रतीत होता है। इस भाँति 'सुपंखरो' भी गीत की निर्बाधता और सारल्य से सम्बन्धित हो सकता है। यद्यपि यह विषय विशेष अध्ययन की अपेक्षा रखता है, पर प्रसंगान्तर्गत गीत-भेद की चर्चा में यह टिप्पणी ध्यान देने योग्य है। **'कन्हैया नृत्याष्टक'** के अमृतधुनि पद में छन्द की गति, यति, विराम और गण-मात्रादि बन्धनों का निर्वाह करते हुए जो उत्कृष्ट शब्द-योजना प्रस्तुत की गई है, उसमें नृत्य की पदचाप के साथ संपूर्ण

तादात्म्य में कहीं भी स्खलन दिखाई नहीं देता। ऐसे छन्दों का गठन आचार्यों के लिए भी एक कसौटी समझा जाता है। दूहों तथा सोरठों में वैणसगाई का निर्वाह आवश्यक रूप से किया जाना अपेक्षित होता है। प्रिथीराज ने इसका पूरा ध्यान रखा है। छप्पय कवित्तों का रचना-चातुर्य भी कवियों तथा काव्य-रसिकों की परख का विषय बना रहता था। अलूजी कविया इन्हीं छप्पय कवित्तों के उच्च कोटि के कौशल के लिए विख्यात रहे थे। 'कवितै अलू' कहकर आज भी काव्य-पारखी उन्हें याद करते हैं। प्रिथीराज के छप्पयों में भी कहीं रचना-शिल्प संबंधी कोई क़सर प्रतीत नहीं होती। उनका सहज प्रवाह अन्य छन्दों की भाँति ही सराहनीय है।

लाख सिंघ केहरी, एक जंबक ग्रहि ल्यावै।
दुयण देखि भूतेस, तजै कोमंड पलावै॥
सेस नटै भुअभार, भगति प्रहलाद न भावै।
बलि राजा हरिचरण छांडि अवरां चित ल्यावै॥
रवि किरण पेखि जग तम रहै, दव हेमाचळ प्रज्जळै।
हरि हरि पुकार सारंगधर, जां सिर ताज न संभळै॥

अलंकार

डिंगल के सर्वप्रमुख अलंकार के रूप में 'वैण सगाई' ही गिना जाता है। वर्णों की 'सगाई' अर्थात निकट सम्बन्ध के आधार पर गढ़े गये इस अलंकार को प्रायः सभी कवियों ने अपनाया है। दूहे के चार चरणों में से हरेक में प्रथम तथा अन्तिम शब्द के आदि वर्ण समान होने पर आदर्श 'वैण सगाई' अलंकार माना जाता है, यथा—

चंपा डगला चार, सामां ह्वै दीजै सजल।
हींडळते गळ हार, हंसतमुखा हरराय री॥

जो बात दूहे में है, वही सोरठे के लिए भी लागू होती है—

रमतां कोइ न रोक, लिखमीवर करतां लहै।
तूं भजियौ त्रीलोक, वेगा वसदेरावउत॥

'वयण सगाई' के अन्तमेळ, मध्यमेळ आदिमेळ आदि अनेक भेदोपभेदों में उपर्युक्त भेद ही अधिक प्रचलित है, और श्रेष्ठ समझा जाता है।

डिंगल काव्य-शास्त्र के आचार्यों ने उकत, जथा तथा दोषों का भी उल्लेख किया है, जिनका निर्वाह कुशल कवि के लिए आवश्यक है। 'उकत' गीत को सम्बोधित करने को कहते हैं। इसके नौ भेद होते हैं, यथा—सुद्ध सनमुख, गरभित सनमुख, सुद्ध परमुख, गरभित परमुख, सुद्ध परामुख, गरभित परामुख, सुद्ध स्री मुख, सुकवि स्रीमुख, मिस्रित।

प्रिथीराज ने प्रायः सभी 'उकतों' का प्रयोग किया है पर 'सनमुख उकत' उन्हें विशेष प्रिय रही प्रतीत होती है। गीतों की निम्न पंक्तियाँ सनमुख उकत की ही हैं—

'तो तणा सूर सेवगां तणी श्री, रिण कजि सनाहिया रहै।'
'दीसै तूझ द्वारि ऋण दूजा, है गै गळ थी तो हुकम।'
'गयौ तू भलां भलां तू न गयौ, धिन धिन तूं सांदवां धणी।'
'रुधर धारां थकी केवियां तणै रिण, देवि दे तूझ आसीस दूदा।'
'पोढियै जु तैं कियो राव पाहू, भारथ हूं अधिको भाराथ।'
'संपति काजि तूझ सारीखां, रायजादा जेसल गिर राव।'
'अणभंग हुतौ ताहरौ आझौ, दड़वड़िया सह बिया दळ।'

'जथा' तथा 'दोख' भी ११-११ ही होते हैं। जथाओं के नाम—विधानीक सर, सिर, वरण, अहिगत, आद, अन्त, सुध, अधिक, न्यून तथा सम हैं। 'जथा उक्ति-वैचित्र्य का ही एक प्रकार है, जैसे 'सूर' नामक जथा में गीत के दूहे में जो बात तीन चरणों में कही जाती है, वही चौथे चरण में पुष्ट की जाती है। इसी प्रकार अन्य जथाओं के पृथक्-पृथक् लक्षण हैं जिनके प्रयोग से वर्णन में चमत्कार आता है। 'वरण' नामक 'जथा' में नख से शिख तक तथा शिख से नख तक वर्णन किया जाना विहित है। इसके दो उदाहरण 'वेलि' में बहुत सुन्दर रूप में दिए गए हैं, जहाँ कवि ने रुक्मिणी के शृंगार का वर्णन किया है। ग्यारह प्रकार के 'दोखों' में अन्ध, छवकाळ, हीण, निनंग, पांगळो, अपस, नाळछेदक, पखतूट, वधिर, अमंगळ तथा जातविरोध हैं। सिद्धहस्त कवियों में ऐसे दोष नहीं होने चाहिए। दो-तीन भाषाओं के शब्दों को एक ही छन्द में प्रयुक्त करने से 'छवकाळ' दोष होता है, और नायक के पिता तथा वंश का नाम नहीं होने से 'हीण' दोष कहा जाता है। इसी प्रकार अन्य दोषों की भी पृथक्-पृथक् पहिचान हैं।

अर्थालंकारों में भी अनेक का बहुशः प्रयोग प्रिथीराज द्वारा किया गया है। पर रूपक उन्हें अत्यन्त प्रिय रहा था। वेलि में ही नहीं, अन्य रचनाओं में भी रूपकों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में मिलता है—

चांच तरवारियां रतनसिर चुगंतो कमळिपग दीयंतो घडां काही।
सुचलि चालियौ उदैसिंघ समौभ्रम माल्हियौ आबुवां सेन माही॥

(यहाँ तरवार रूपी चंचु से मुक्तारूपी सिरों को चुगता हुआ, 'धड़' रूपी कमलों पर पैर रखता हुआ नायक (जगमाल सीसोदिया) आबुवों (सिरोही वाले देवड़ा राजपूतों अथवा जल भंडार में) की सेना में सहज रूप से विचरण करता है।)

वेलि में उत्प्रेक्षा, उपमा, श्लेष, यमक, अर्थान्तरन्यास, प्रतीप, दृष्टान्त, अपह्नुति, उल्लेख, व्यतिरेक, यथासंख्य, वक्रोक्ति आदि अलंकार भी स्थान-स्थान पर प्रयुक्त हैं—

किरि कठचीत्र पूतळी निज करि चीत्रारै लागी चित्रण।

—उत्प्रेक्षा

(मानों काष्ठपट पर चित्रित पुतली ही अपने चित्रकार को चित्रित करने लग गई हो।)

कुंदणपुर हुंता, बसां कुन्दणपुरि, कागळ दीघो एम कहि।
राज लगे मेल्हियौ रुखमणी, समाचार इण माहि सहि।

—यथासंख्य

(कुंदनपुर से आया हूँ, कुंदनपुर में ही रहता हूँ, यह कहकर पत्र दिया। आपके पास रुक्मिणी ने भेजा है, इसी में सारे समाचार हैं।)

रामावतारि वहे रणि रावण, किसी सीख करुणाकरण।
हूं ऊधरी त्रिकुटगढ़ हूंती, हरि बंधे वेळाहरण॥

—वक्रोक्ति

(हे करुणाकरण, रामावतार के समय किसकी सीख मान कर आपने रावण का वध किया था, लंका मे मेरा उद्धार किया था और समुद्र पर पुल बाँधा था।)

सांस्कृतिक परिवेश

प्रिथीराज के काव्य की सबसे बड़ी विशेषताओं में एक उसका सांस्कृतिक परिवेश है। तत्कालीन संस्कृति की यह एक जीती-जागती विगत है, जिसमें मध्ययुगीन संस्कृति का बहुमुखी आयाम सिमटकर समा गया है। ऊठ-बैठ, बोल चाल, खान-पान, वेश-भूषा, लोक-व्यवहार, पर्व-त्यौहार, विवाहादि संस्कार, हरण-प्रसंग, सेना, युद्ध, वनस्पति, वाग-तड़ाग, स्थापत्य, चित्र, काव्य, राजसभा, अन्त:पुर, वर्णाश्रम आदि अनेकानेक वर्णनों से यह काव्य अतीव समृद्ध हो गया है। तत्कालीन ज्ञान-विज्ञान की नानाविध शाखाओं का समावेश भी कर लिया गया है। ज्योतिष, वैद्यक, तर्कशास्त्र, दर्शन, भक्ति, पुराण-ज्ञान आदि की सूक्ष्म जानकारियाँ भी दी गई हैं।

परम्परागत देव-वन्दना तथा विनम्रता का प्रदर्शन ग्रन्थ के प्रारम्भ में किया जाना भारतीय कवियों की अपनी विशेषता रही है, जिसे प्रिथीराज ने भी अपनाया है। वर्ण्यविषय—आराध्यदेव का गुणगान—की महत्ता और स्वयं की अल्पवुद्धि-जन्य असमर्थता कालिदास जैसे महाकवि ने भी प्रकट की थी। उन्हीं स्वरों में प्रिथीराज ने महाकवि का अनुगमन किया है। जैसा कि कहा जा चुका है, स्त्री के सौन्दर्य की ही प्रशस्ति करनेवाले मध्ययुगीन कवियों से हटकर प्रिथीराज ने उसके मातृरूप को और भी महान बताया है, जो उनकी अपनी विशेषता कही जा सकती है।

सम्पन्न घरों की बालिकाओं के लालन-पालन के चित्र भी प्रिथीराज ने अच्छे

खींचे हैं। स्त्रियों की शिक्षा-दीक्षा में व्याकरण, पुराण, स्मृति, वेदादि का उल्लेख भले ही शत-प्रतिशत सही नहीं हो पर राजकुमारियों को चौदह विद्याओं और चौंसठ कलाओं के साथ साहित्यादि की समुचित शिक्षा भी दी जाती होगी, जो स्थानीय वातावरण और राजवंशों की परम्परा पर अधिक निर्भर थी।

विवाह-सम्बन्धों में वर्ण-व्यवस्था के अन्दर भी ऊँची-नीची जातियों का पूरा ध्यान रखा जाता था। भले ही यह प्रसंग कृष्ण के अहीर वंश के निमित्त ही रखा गया हो, पर इन बातों का प्रचलन तो आज तक चला आ रहा है। इसी सन्दर्भ में रुक्मिणी के भाई का यह कथन कि बुढ़ापे में माता-पिता की बुद्धि भ्रष्ट हो गई है, उस मान्यता की ओर संकेत है, जिसमें साठ वर्ष पूरा करने पर बुद्धि क्षीण होना कहा जाता है—'साठी बुध नाठी'। और ऐसे ही प्रश्नों पर, पुत्र का माता-पिता को तिरस्कृत कर मनमानी करना कुलशीलहीन परिवारों की बात कहता है।

युगों से ब्राह्मण एक अत्यन्त विश्वस्त और मंगलकारी सन्देशवाहक के रूप में माना जाता रहा था। विवाह प्रसंगादि में तो उसे ही पूर्ण अधिकार के साथ सम्बन्ध निश्चित करने के लिए भेज दिया जाता था। ब्राह्मण की यह पवित्रता शताब्दियों तक की गई उसकी तपस्या, साधना, निस्पृह सेवा, त्याग आदि की गहरी जड़ों से प्रस्फुटित हुई थी। महाभारत काल में यह निष्कलंक थी ही पर मध्य युग में भी उसके दूषित होने के कोई विशेष कारण उपस्थित नहीं हुए थे। ब्राह्मण की दरिद्रता, उसका सन्तोष, उसकी निरीहता, उसका ज्ञान तथा उसकी दैहिक, वाचिक और मानसिक पवित्रता सहानुभूति का विषय एवं मंगल का स्रोत समझी जाती थी।

आपद्ग्रस्ता स्त्रियों द्वारा अपने उद्धारकों से विनय करना भारतीय संस्कृति की अपनी वस्तु रही है। ऐसी विनय की जाने पर किसी भी वीर के लिए कटिबद्ध हो जाने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं था। जो ऐसा नहीं करता, वह निन्दा का भाजन बनता रहा है। बहिनों द्वारा रक्षाबन्धन की रूढ़ि में भी यही भावना अन्तर्निहित रही है। संकट पड़ने पर उसकी रक्षा के लिए अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देना ही पुरुषोचित रहा है। मध्य युग में हुमायूँ द्वारा राखी की लाज रखने के लिए किया गया कार्य तथा महाराणा राजसिंह द्वारा राठौड़ राजकुमारी के सन्देश पर विवाहार्थ पहुँचना, ऐसे ही प्रयत्न थे।

स्त्री-हरण द्वारा विवाह अनेक शास्त्रीय भेदों में ही माना गया है, पर आदिम जातियों में तो विवाह की यही प्रथा विशेषकर प्रचलित रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि वीरता-प्रदर्शन का यह अवसर धीरे-धीरे रूढ़ होकर परम्परा के रूप में प्रतिष्ठित हो गया। मध्य युग में भी विवाहित स्त्रियों का ऐसा हरण उच्चकुलीन राजपूतों में भी प्रचलित था। मुँहता नैणसी ने 'नरबद सत्तावत सुपियारदे लायो तैंरी बात' में नरबद द्वारा सुपियारदे के हरण का वृत्तान्त दिया है। नीची कही

जानेवाली जातियों में तो औरतों को भगा ले जाने की घटनाएँ आज तक होती हैं।

देवी-पूजन विवाहादि अवसरों के पहले किया जाता था। कुँवारी कन्याएँ जीवन भर गौरी का पूजन इसीलिए करती थीं कि उन्हें मनपसन्द वर की प्राप्ति हो। प्राचीन सूफ़ी काव्यों में भी देवी दर्शन के बहाने नायक से गुप्त रूप से मिलने के दृष्टान्त आते हैं। 'चन्दायन' काव्य में मौलाना दाऊद ने 'लोरिक' नायक से मिलने के लिए 'चन्दा' के देवी-मन्दिर जाने का प्रसंग दिया है। अन्तःपुरों में बन्द रहनेवाली राजकुमारियों के लिए ऐसे ही अवसर थे, जब वे बाहर आकर स्वच्छन्दता का अनुभव कर सकती थीं।

रूप-सौन्दर्य का जादू कितना विकट होता है, यह काव्योचित अतिशयोक्ति प्रिथीराज ने रुक्मिणी के सौन्दर्य से समूची सेना को मूर्च्छित बनाकर व्यक्त की है। लोक में भी 'सोरठ' का एक दूहा इस प्रकार की उक्ति से युक्त है—

सोरठ चली बजार में कर सोळा सिणगार।
बिणज गंवायो बाणियां, बळद ज मूढ़ गंवार॥

(सोरठ सोलह शृंगार करके बाज़ार में चली तो उसकी छवि देखने से बेसुध हुए दुकानदारों ने धन्धा करना भुला दिया और ग्रामीण अपने बैल गवाँ बैठे।)

महाभारत काल में तो रथों का प्रचलन था ही, पर मध्य युग में भी बैलों के रथ, बहली आदि का उपयोग कुलीन महिलाओं के लिए किया जाता था। कृष्ण का रुक्मिणी को रथ में बैठाकर भगा ले जाना इसलिए भी संगत कहा जा सकता है। ऐसी कथाएँ मिलती हैं, जिनमें हरण के उद्देश्य से लोग बैलों को पालते तथा साधते थे। जब वे उनके करतब के प्रति आश्वस्त हो जाते तो उन बैलों के रथों-बहेलियों से हरण की घटनाएँ घटित करते थे।

युद्ध-वर्णन में केसरिया वस्त्रों में सजे कुलीन ठाकुर, नगाड़ों की ध्वनि, घोड़ों की हींस, मारक प्रहार करनेवाले योद्धा, हथनाळ, कुहुक बाण, जिरह बख्तर तथा भाले प्रिथीराज के अपने युग के ही नहीं बल्कि जीवन के अभिन्न अंग रहे थे। इस दृष्टि से उनके वर्णन की सार्थकता सर्वोपरि कही जा सकती है। और इसके साथ ही काव्य-रूढ़ि के रूप में चौंसठ योगिनियों का आगमन, रुधिर के पात्र भर-भरकर पीना, वीरों की ललकारें, रुधिर के प्रवाह, गृद्धों का मँडराना, अंगों का क्षत-विक्षत होना आदि सम्यक् प्रयोग किये गये हैं।

युद्धप्रसंग में पूर्ववर्ती राजस्थानी कवि लोहार का रूपक बड़े चाव से बरतते आये हैं। प्रिथीराज रासो में कवि चन्द ने भी इसे अपनाया है। लोहार युद्ध-उपकरणों से घनिष्ठ रूप से जुड़े रहने के कारण कवियों की कल्पना में सम्माननीय स्थान पाये तो कोई विचित्र बात नहीं है। प्रिथीराज ने भी लोहार और उसके उपकरणों—अहरण, सँडासी, अग्नि, जल आदि को रूपकबद्ध किया है।

रुक्मि को रुक्मिणी का भाई जानकर, उसका वध करने के स्थान पर अनादृत करने का प्रसंग भी परम्परागत है। प्राचीन रीति से अनादृत किये जानेवाले विशिष्ट व्यक्तियों के सिर के आधे वाल कटवा देना, मूँछें कटवा देना, गधे पर चढ़ाना, फूटे मिट्टी के वर्तनों की माला गले में पहनाना, काला मुँह करना आदि प्रकारों का प्रचलन था। 'भरतेश्वर बाहुबलि रास' नामक तेरहवीं शताब्दी (वि०) के राजस्थानी जैन काव्य में पराजित राजाओं को मुण्डित किये जाने का वर्णन आता है।

प्राचीन संस्कृत काव्यों में राजा के नगर-प्रवेश पर बाजारों व घरों की सजावट, पुरवासियों द्वारा शुभ्र वस्त्र धारण करने तथा मंगलाचरण और आनन्द-प्रमोद के चित्र खींचे गये हैं। वाल्मीकि ने भी राम के अयोध्या-आगमन पर ऐसा ही वर्णन किया है। कालिदास के '**रघुवंश**' में भी ऐसे वर्णन प्राप्त हैं। प्रिथीराज ने उसी परम्परा में उत्सव-बधावे, तोरण, छत्र, धवलित आवास, बाजों, रंग-गुलाल आदि द्वारा नगर-शोभा का वर्णन किया है। राजा की सवारी देखने के लिए सब काम छोड़कर छतों पर दौड़कर एकत्रित हुई पुरनारियाँ आज भी राजस्थानी संस्कृति की विशेषता बनी हुई हैं। रुक्मिणी को लेकर घर आने पर आरती उतारना, मंगल गीत गाना, बाजे बजवाना आदि राजस्थान के जीवन के अभिन्न अंग हैं।

ब्राह्मण से विवाह का मुहूर्त पूछना तथा विवाह-संस्कार में अरणी, घृत, चन्दन, पूर्वाभिमुख आसन, मधुपर्क संस्कार, फेरे, करग्रहण, वामांग बैठाना आदि रीतियों का निर्वाह भी परम्परासंगत है।

शयनगृह की रीति, प्रथम मिलन तथा ऋतु-वर्णन भी प्राय: कवि-परम्परा के अनुकूल ही दरसाये गये हैं। ऋतुराज की महफ़िल के मिस प्रिथीराज ने अपने समय की महफ़िलों की झाँकी प्रस्तुत की है। मृदंग, गायक, जाणगर, निरतकर, तालधर, तंत्रीवाद्य, खंजरीट, उपंगी, रसज्ञ लोग, विभिन्न राग-रागिनियाँ, यवनिका, पात्र आदि उस समय की महफ़िलों के अंग थे।

यद्यपि ऋतु-वर्णन में नाना प्रकार के वृक्षों, लताओं, पुष्पों और फलों का परिगणन रूढ़िगत ही है, पर तत्कालीन बाग़ों में अनेक तरह के वृक्षादि लगाने की एक प्रथा भी थी। राजाओं के बाग़ों में ऐसे अनेक वृक्षादि होते थे, जो आम तौर पर उन क्षेत्रों में नहीं होते थे। 'आमेर' के राजोद्यानों में अनार, आम जैसे फल तथा केसर की क्यारियाँ होने के प्रमाण उपलब्ध हैं। इसलिए प्रिथीराज का यह कथन—'वणि-वणि माळिणि केसरि वीणति'—कोई आश्चर्य की बात नहीं कही जा सकती।

मधुपान का रिवाज प्रिथीराज के समय काफ़ी प्रचलित था। पुरानी परम्परा के बड़े-बूढ़े तो अफ़ीम का ही सेवन करते थे, पर विदेशियों के प्रभाव से मदिरा का

प्रचलन वढ़ रहा था। **'दलपत-विलास'** नामक ग्रन्थ में राजकुमारों के मदिरा-पान की बात कही गई है। 'चषक' के प्राचीन वर्णन प्याले की संस्कृति में नये वेश में अवतरित हो रहे थे। प्राचीन राजपूत कुलों में मदिरा त्याज्य समझी गई थी। उदयपुर का राजवंश इस गौरव का अधिकारी था। पर बाद में जैसलमेर व मारवाड़ की राजकुमारियों के परिणय-प्रसंगों से वहाँ भी मदिरा का प्रचलन प्रारम्भ हो गया।

कृष्ण के पारिवारिक वर्णन में सास, ससुर, बहू, पुत्र, पौत्र आदि भारतीय गृहस्थ के अभिन्न अंग बनकर आये ही हैं।

और अन्त में, **'वेलि'** माहात्म्य में कवि ने धार्मिक श्रद्धा से अभिभूत हो पौराणिक माहात्म्य-वर्णन का अनुकरण करते हुए कृष्ण-रुक्मिणी के इस पवित्र प्रसंग को पढ़ने-सुनने से होनेवाले पुण्य की प्राप्ति का बखान किया है। हिन्दू समाज के हर सदस्य की जो-जो कामनाएँ व अभिलाषाएँ हो सकती हैं, उन सभी की पूर्ति वेलि के माहात्म्य में समाविष्ट हो गई हैं। दाम्पत्य-प्रेम की प्राप्ति, कुमारी को वर-प्राप्ति, परिणीता को पुत्र-प्राप्ति, पति का सौभाग्य, पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र की प्राप्ति, अन्न-धन का भंडार, सवारी, बंश-वृद्धि, आरोग्य, सभी प्रकार की विपत्तियों का नाश, सम्पत्ति, दुर्भाग्यनाश, प्रेतबाधा की समाप्ति, मोक्ष-प्राप्ति, गंगा-स्नान का फल, आदि सभी प्रकार के लाभ बताये गये हैं। इनसे तत्कालीन समाज की मानसिकता का अनुमान लगाया जा सकता है। उनके अन्धविश्वास भी इस वर्णन से व्यक्त हुए हैं।

प्रिथीराज के समय की विद्याओं, कलाओं, शास्त्रों, भक्ति-सम्प्रदायों, साहित्यिक गतिविधियों, पौराणिक आख्यानों आदि की जानकारी भी उनके काव्य से भली-भाँति होती है। नृत्य एवं संगीत का जो सामंजस्य भक्ति-सम्प्रदाय के आचार-विचारों में हो गया था, उसकी झलक दिखानेवाले कुछ पद उस स्थिति की कल्पना कराने में सहायक हैं।

डिंगल गीतों में प्रिथीराज ने धरना देने तथा कंठों में कटार खानेवाले चारणों की निन्दा की है और उन चारण कवियों की प्रशंसा, जिन्होंने युद्ध में सम्मिलित होकर शौर्य प्रदर्शित करना ठीक समझा। 'बाई बारै खालिया' कहकर उन्होंने दुरसा आढा जैसे कवियों को आड़े हाथों लिया है। मगर सांदू रामा जैसों की प्रशंसा की है, जिन्होंने युद्धभूमि में जाना श्रेयस्कर समझा—"गयो तू भलां, भलां तू न गयो, धिन धिन तूं सांदवाँ घणी।"

वे वीरता के पुजारी थे और क्षात्रधर्म के अनुकूल शौर्य के आराधक। महाराणा प्रताप के प्रति उनके उद्‌गार उनकी स्वातन्त्र्य-भावना के प्रमाण हैं और उन क्षत्रियों के प्रति तिरस्कारयुक्त, जिन्होंने पराधीन होकर अपना मान-सम्मान और मर्यादा विदेशियों को समर्पित कर दी। भले ही, उन्हें स्वयं अकबर की सेवा

स्वीकार करनी पड़ी हो, पर कवि-धर्म के नाते उन्होंने अन्य वीरों को प्रेरित करने में अपने कर्त्तव्य का निर्वाह किया। महाराजा रायसिंह, जो उनके सगे बड़े भाई थे, तथा रायसिंह के पुत्र महाराजकुमार दलपतसिंह से, प्रिथीराज के सम्बन्ध मधुर न होते हुए भी उन्होंने दोनों की प्रशंसा में गीत लिखे। उसी प्रकार दलपतसिंह के द्वारा युद्ध में प्रदर्शित बहादुरी का भी बखान किया। अपने समय के अन्य अनेक वीरों को भी प्रिथीराज ने अपनी श्रद्धांजलि दी। 'राजपूती किसी की अपनी नहीं है', यह उक्ति बाद के कवियों में भी प्रचलित रही है—

जो करसी जिण री हुसी आसी विन नूंतीह।
आ नंह किण रा वाप री भगती रजपूतीह॥

इसी भावना से प्रिथीराज ने मुसलमान वीरों द्वारा वीरता प्रदर्शित करने पर भी गीत रचे हैं। शत्रु-दल के वीरों को भी डिंगल कवियों ने अपनी प्रशस्तियों से अभिषिक्त किया है। ऐसा करते हुए उन्होंने किसी प्रकार का भेदभाव या वचन-दारिद्र्य नहीं दिखाया। एक वेलाग कवि से ऐसी ही आशा की जानी चाहिए। प्रिथीराज ऐसे ही एक निष्पक्ष, उदारमना और भावुक-हृदय कवि थे।

भाव-सौष्ठव

प्रिथीराज की प्रमुख रचनाओं में **'ठाकुरजी व गंगाजी के दूहे'**, **'साख री कविता'** (डिंगल गीत) तथा **'वेलि'** ही मानी जाती है। कुछ स्फुट छप्पय, कुंडळिया व अन्य पद भी हैं। पर भाव-सौष्ठव की तलाश के लिए तो **'वेलि'** ही उपयुक्त स्थल है। भक्ति के दूहे और डिंगल गीत पारम्परिक रीति से ही रचे हुए हैं। उनमें भगवद्-भक्ति, श्रद्धा और आस्था तथा वीर कृत्यों की प्रशस्तियाँ ही हैं। सूक्ष्म भावों के प्रदर्शन की कोई चेष्टा नहीं की गई है। मानवीय संवेदनाओं के प्रसंग भी उन काव्यों में नहीं लाये जा सके हैं। **'वेलि'** में भी कवि ने अनेक भाँति की काव्य-रूढ़ियों के अलंकृत वर्णन किए हैं, जिनमें वर्णनात्मक कौशल के होते हुए भी गूढ़ भावनाओं का कोई विश्लेषण नहीं मिलता। ऋतु वर्णन, नख-शिख शृंगार, युद्ध-वर्णन आदि ऐसे ही प्रसंग हैं, जो अनेक मध्ययुगीन कवियों द्वारा प्रयुक्त हुए हैं। इन वर्णनों में कोई ऐसा वैशिष्ट्य भी नहीं दिखाई देता, जो प्रिथीराज को महाकवियों की श्रेणी में पहुँचा सके। पर **'वेलि'** में उन स्थलों की कमी नहीं है, जहाँ कवि अपनी गहन अनुभूतियों को साक्षात् करने में सफल हुआ है। यहाँ ऐसे ही कुछ प्रसंगों की चर्चा अभीष्ट है।

रुक्मिणी की वाल्यावस्था

बाल-क्रीड़ा करती हुई रुक्मिणी को 'हंसशावक' से उपमित करना और 'दो पत्तों की स्वर्ण वेलि' बताना कितना सारगर्भित है।

'बाळकति करि हंस चौ बाळक, कनक वेलि बिहुँ पान किरि।'

हंस की परम्परागत श्रेष्ठता, सुकुमारता और गुणग्राह्यता का तादात्म्य रूपगुणसम्पन्ना बालिका वय की रुक्मिणी के साथ बड़ा सार्थक है। इसी प्रकार कोमलांगी सद्यःप्रस्फुटिता वल्लरी से भी उसकी उपमा बड़ी फबती है। कनक वेलि कह कर उसकी कंचनाभ देह की ओर इंगित करना भी कवि की विशेषता है।

वय:सन्धि

स्त्रियों के जीवन में यह अवस्था विशेष, जब निर्द्वन्द्व और निरीह बाल्यावस्था यौवन की देहरी पर आकर खड़ी होती है, उस रहस्यलोक की तरह अज्ञात, रोमांचक और आकर्षक प्रतीत होती है, जिसका हर क्षण एक अनबूझ पहेली की तरह, विस्मय, कौतूहल और अस्फुट माधुर्य की सृष्टि करता रहता है। अनेक सिद्धहस्त कवियों ने उस मनोदशा का चित्रण करने की असफल चेष्टाएँ की हैं। प्रिथीराज ने उस अवस्था को उस स्वप्नावस्था के समान बताया है, जिसमें शैशव सुषुप्ति में चला गया है और यौवन अभी जागृत नहीं हुआ है, पर अब पल-पल यौवन का प्रथम ज्ञान चढ़ता ही जाएगा—

सैसव तनि सुखपति, जोवण न जागृति, वेससंधि सुहिणा सुवरि।
हिव पळ-पळ चढ़तौ जि होइसैं, प्रथम ज्ञान एहवी परि॥

यद्यपि अवस्थाओं का यह विभाजन उचित-सा ही प्रतीत होता है, पर ऐसी कोई स्पष्ट व्याख्या कदापि सम्भव नहीं है। वय:सन्धि की स्वप्नावस्था में भी रोमांचक रहस्य का जो मन्द मधुर कुहरा छाया रहता है और नयनाभिराम इन्द्रधनुषी छवियाँ रह-रह कर झलकती रहती हैं, उनका चित्रण मात्र 'स्वप्न' कहने से नहीं होता। इस कमी को प्रिथीराज ने आगे की पंक्तियों में पूरी करने का प्रयत्न किया है। रुक्मिणी के मुख की लालिमा मानो उषाकाल की रक्तिमा है और उसके उठते हुए कुच संध्यावंदन करते हुए ऋषि। गाथा सप्तशती में हाल कवि ने इन कुचों की श्यामवर्णता को गाय-बैल आदि के सिर पर फूटती हुई 'सींग' की श्यामलता से उपमित किया है, जिससे पशु को एक हलकी खुजलाहट का-सा आभास होता है। उठती हुई युवावस्था से उसके हृदय में बेचैनी बढ़ती जा रही है और बचपन का साथ बिछुड़ते हुए वह मन-ही-मन बिलख रही है। माता-पिता के सामने गुड़ियों से खेलते हुए भी उसे अपने उठते हुए कुचों को छिपाने के लिए लज्जा करते हुए भी लज्जा आती है। यही वह स्थल है, जहाँ प्रिथीराज ने अपनी सूक्ष्मतम अनुभूति को प्रकट किया है—

आगळि पित-मात रमन्ती अंगणि, काम-विराम छिपाड़ण काज।
लाजवती अंगि एह लाज विधि, लाज करंती आवै लाज॥

रुक्मिणी की आतुरता

जब रुक्मिणी का भेजा हुआ ब्राह्मण द्वारिका से लौट कर आता है तो निकट आते हुए उसके मुख की ओर देखती हुई रुक्मिणी की व्यग्रता की अनुभूति कवि ने बहुत सुन्दर ढंग से की है। उसमें चिन्ता, प्रतीक्षा, आतुरता, लज्जा, शंका आदि अनेक मनोभावों के बीच झूलते हुए रुक्मिणी के मन का सही चित्र खींचा गया है। उसका चित्त ब्राह्मण को देखते ही पीपल के पत्ते की तरह काँपने लगता है। सखियों की उपस्थिति के कारण वह न तो स्पष्ट रूप से उससे पूछ सकती है और न पूछे बिना रह ही सकती है। इसलिए अनुमान लगाने के लिए उसकी मुखाकृति की ओर ही देख रही है—

> चळपत्र पत्र थियौ दुज देखे चित्त, सकै न रहति न पूछि सकन्ति।
> औ आवै जिम-जिम आसन्नौ, तिम तिम मुख-धारणा तकन्ति॥

नख-शिख वर्णन

यह प्रसंग पारम्परिक होते हुए भी इसमें अनेक स्थानों पर नई उद्भावनाएँ की गयी हैं, जो बड़ी फबती बन पड़ी हैं। स्नानान्तर केशों को धूप में सुखाने के लिए फैलाने के भाव को मन रूपी मृग को फँसाने के लिए फैलाए गए कामदेव के जाल से उपमित करना बड़ा सटीक बन पड़ा है

> लागी विहुं करे धूपणै लीधै केसपास मुगता करण।
> मन-मृग चै कारणै मदनची, वागुरि जाणे विसतरण॥

इसी प्रकार, काजल लगे अनियारे सजल नेत्रों और कानों में पहने कुण्डल को लेकर सिकलीगर द्वारा शाण पर चढ़ाकर, जल डाल-डालकर तीखे बनाये जानेवाले अस्त्र की उपमा भी बहुत सुन्दर है। नख-शिख वर्णन के अन्य रूपक भी सांगोपांग बन पड़े हैं, यद्यपि उनमें भावों की गहराई न होकर उक्ति का चमत्कार भर ही है।

पालकी में बैठी रुक्मिणी

देव-दर्शन के लिए पालकी में बैठकर जाती हुई सखियों से घिरी रुक्मिणी को लज्जा से आवृत साक्षात् शील ही बताकर कवि ने बड़ी मार्मिक उपमा दी है। ऐसे ही वे स्थल हैं, जहाँ प्रिथीराज की स्वाभाविक प्रतिभा प्रस्फुटित हुई है—

> चकडोळ लगै इणि भांति सुंचाली, मति तैं वाखाणण न मूं।
> सखी समूह मांहि इम स्यामा, सीळ आवरित लाज सूं॥

मूर्च्छाग्रस्त सैनिक

रुक्मिणी के भरपूर रूप-शृंगार से उन्मादक यौवन को देखकर मूर्च्छित सैनिक ऐसे प्रतीत हुए मानो देवालय बनाते समय ही ये मूर्तियाँ भी गढ़ी गई थीं। देवालय के प्रसंग में सैनिकों की अवस्था का यह चित्रण भी कवि-कौशल की एक उत्कृष्ट बानगी बन गया है—

मन पंगु थियौ सहु सेन मूर्छित, तह नह रही संपेखतै।
किरि नीपायौ तदि निकुटी ए, मठपूतळी पाखांणमै ॥

मिलन-रात्रि की पूर्व संध्या में रुक्मिणी का मनोभाव

नवविवाहिता रुक्मिणी के मन में प्रिय-समागम की मधुयामिनी से पूर्व जो हर्ष, संकोच, लज्जा, आतुरता आदि की विचित्र अवस्था थी, उसके संकोच-पक्ष की एक झलक उपमाओं की एक झड़ी-सी लगाकर प्रस्तुत की गई है। इस संकोच में लज्जा का मनोहारी रूप ही समाया हुआ है—

संकुड़ित समसमा संध्या समयै, रति वंछिति रुकमणि रमणि।
पथिक वधू दिठि पंख-पंखियां, कमळ पत्र सूरिज किरणि ॥

संध्या समय जैसे सूर्य की किरणें, विकसित कमल की पंखुड़ियाँ, घोंसले के पास लौटकर जाते हुए पक्षी के पंख और प्रवासी पति की बाट जोहती हुई विरहिणी के नयन सिमटने लगते हैं, वैसे ही रति की प्रतीक्षा में होते हुए भी रुक्मिणी का मन स्वाभाविक लज्जा के कारण सिकुड़ा जा रहा था। यहाँ कवि ने जिस वातावरण का सृजन किया है, वह विषय के साथ एकाकार होता जान पड़ता है। विरहिणी नायिका, घर लौटते पंछी, मुँदते कमल, अस्त होता सूर्य और प्रथम मिलन की प्रतीक्षा में बैठी संकुचिता नायिका सभी एक-दूसरे के भाव पोषक बने हुए हैं।

इसी प्रसंग में आगे जाकर रति-गृह की ओर, पग-पग पर सखियों द्वारा सहारा दिया जाकर, मन्द गति से ले जाई जाती हुई रुक्मिणी के लज्जा-भाव को लंगर डाले हुए हाथी से उपमित करना भी वीर-शृंगार का अद्भुत मिश्रण है। राजपूती जीवन में ऐसी उपमाएँ दी जानी स्वाभाविक ही थीं।

अवलम्बि सखी कर पगि पगि ऊभी, रहती मद बहती रमणि।
लाजलोह लंगरे लगाए, गय जिमि आणी गयगमणि ॥

रत्यन्त में रुक्मिणी

उसका मुख पीला पड़ गया, चित्त में व्याकुलता हुई, हृदय धक्-धक् करने लगा और थकावट का आभास हुआ। उसने लज्जा से नेत्र मूँद लिये और पैरों की

नूपुर-ध्वनि तथा कण्ठों के कोकिल-बैन भुलाकर वह निःशब्द बन गई। इस चित्र में भी दैहिक और मानसिक दशा का हू-ब-हू चित्र खींचा गया है। प्रिथीराज के जीवन में ऐसे अनेक प्रसंग आए होंगे, जिनका सूक्ष्म निरीक्षण इन थोड़े से शब्दों में बड़ी कारीगरी से जड़कर रख दिया गया है—

> स्री वदन पीतता चित व्याकुलता, हियै ध्रगध्रगी खेद हुइ।
> धरि चख लाज पगे नेउर धुनि, करे निवारण कंठ कुह।।

ऋतु-वर्णन

ऋतु-वर्णन अलंकार-प्रधान होते हुए भी उसमें कहीं-कहीं ऐसे स्थान हैं, जहाँ कवि कुछ गहरे उतरकर सूक्ष्म भावनाओं को व्यक्त कर पाया है। शरद ऋतु में दीपावली के पर्व पर घरों में जगमगाते हुए दीपकों की ज्योति भीतर होते हुए भी बाहर ऐसी झलकती है मानो समवयस्का सखियों से घिरी नायिका के मुख से सौभाग्य झलकता हो—

> दीधा मणि मन्दिरे कातिग रे दीपक, स्त्री समाणियाँ माहि सुख।
> भीतर थका वाहिर इस भांसै, मनि लाजती सुहाग मुख।।

प्राचीन डिंगल काव्य में ऐसा दूसरा कवि मिलना दुष्कर है, जो प्रिथीराज की समकक्षता में भाव जगत् को इस प्रकार तरंगित करने में समर्थ रहा हो। प्रिथीराज के काव्य में ऐसे स्थल भले ही विरल हों, पर ये ही उन्हें डिंगल के श्रेष्ठ कवि के रूप में प्रतिष्ठित करने के लिए पर्याप्त हैं।

भक्ति-भावना

प्रिथीराज के आराध्य कृष्ण थे। कृष्ण की बाल-लीलाओं और पराक्रमों का गुणानुवाद उन्होंने अनेकशः किया है। यद्यपि एक आस्तिक हिन्दू के नाते राम, शिव, देवी आदि अन्य देवी-देवताओं के प्रति भी उनकी आस्था और श्रद्धा उच्च कोटि की ही थी, पर कृष्ण के जीवन को उन्होंने अपने मन के अधिक अनुकूल पाया। राम का एकपत्नीव्रत तथा दूसरी सामाजिक और पारिवारिक मर्यादाएँ श्रेष्ठ होते हुए भी प्रिथीराज की स्वयं की परिस्थितियों के अनुकूल नहीं थी। दूसरे, उस समय राजस्थान में कृष्ण-भक्ति का प्रचार भी अधिक था। राम से सम्बन्धित तीर्थ-धामों की तुलना में कृष्ण के लीला धाम—वृन्दावन, मथुरा, द्वारिका—अधिक जाने-पहचाने और सन्निकट भी थे। कृष्ण-भक्ति में जो माधुर्य-भाव, जो स्वच्छन्दता तथा शृंगार-वीर का जो सामंजस्य था, वह एक राजकुलोत्पन्न क्षत्रिय कवि को अधिक रुचिकर लगता, यह स्वाभाविक ही था। इसलिए प्रिथीराज ने उस कृष्ण को ही अपना आराध्य बनाया। राजस्थानी आदर्शों की मर्यादा में पले हुए प्रिथीराज को कृष्ण-राधा का प्रेम-प्रसंग, भले ही उसकी दार्श-

निक व्याख्या की गई हो, सांसारिक रूप से इतना उचित नहीं लगा, जितना विवाहिता रुक्मिणी का प्रसंग। सम्भवतः यही कारण है कि राजस्थान में कृष्ण-रुक्मिणी के विवाह को ही मान्यता प्राप्त है, और कुलीन स्त्रियाँ इसी प्रसंग को पढ़ती-सुनती आई हैं।

कृष्ण के प्रति प्रिथीराज की भक्ति न तो सखाभाव की है, न प्रिय-प्रियतमा भाव की और न ही दास्य भाव की। शायद इनमें से कोई-सा भी रूप उन्हें नहीं रुचा। इसलिए विशुद्ध समर्पण भाव की भक्ति ही उनके काव्य में प्रकट होती है। यह समर्पण भी एक कवि का एक सर्वशक्तिमान सत्ता के प्रति है। यह बात उन्होंने अनेक बार प्रकट की है। उन्होंने कहा है कि मैं इतने दिनों व्यर्थ ही मानव-प्रशस्ति में लगा रहा और परम सत्ता को नहीं पहचान पाया—

प्रथि हरि तजि गुण मानवाँ, जोड़े किया जतन्न।
जाणि चित्तभ्रम बंधिया, गळ गादहां रतन्न॥
प्रिथु ज मैं अवरां पुणे, गुण छंडे गोपाळ।
मांणक गुंथ मोताहळां, मड़ गळि घाती माळ॥

इसी भाव को एक छप्पय में भी प्रकट किया गया है—

हूं ऊजड़ हालियो, वार आसन्नी हूंती।
म्हैं कोहोर सींचियौ, तीर सुरसरी बहंती॥

इस कथन में कवि द्वारा की गई मानव-प्रशस्तियों के लिए पश्चात्ताप की भावना झलकती है। इसी मनोदशा के बाद सम्भवतः उन्होंने भक्ति-विषयक रचनाओं में मन लगाया।

'वेलि' में यद्यपि कवि ने कथा कहते हुए काव्य-सृजन किया है, पर अनेक पात्रों के मुख से अपने स्वयं के श्रद्धा-सुमन भी आराध्य को समर्पित किए हैं—

वदनारविंद गोविंद वीखियै, आलोचै आप-आप सूं।
हिव रुखमणि कृतारथ हुइस्यै, हुऔ कृतारथ पहिलौ हूं॥

गोविन्द के मुखकमल को देखकर ब्राह्मण का यह आत्मालोचन है कि रुक्मिणी तो इनके दर्शन से बाद में कृतार्थ होगी, मैं तो पहले ही हो गया हूँ। ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ ब्राह्मण वेश में प्रिथीराज ही कृतार्थ हो गए हैं।

कृष्ण के उद्धारक रूप की स्तुति ही प्रिथीराज ने की है। इसी उद्धारक और मोक्षदायक रूप में उन्होंने राम तथा गंगाजी को भी देखा है। इसीलिए उन्हीं पौराणिक प्रसंगों के दृष्टान्त स्थान-स्थान पर दिये हैं, जिनसे उस रूप की पुष्टि होती है। प्रिथीराज की सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि उन्होंने एक ही आराध्य में सभी शक्तियों को समन्वित रूप में देखा है। कृष्ण का विष्णु रूप स्थान-स्थान पर वन्दित हुआ है—

पग पाताळि पइट्ठ, माथौ ब्रह्मंड ले मिळै।
दाणव अह्वो दिट्ठ, वामण वसदेरावउत ।।

विष्णु रूप के इन करतबों में राम, कृष्ण का भेद मिटाते हुए उन्होंने कहा है—

श्रीभागवत सु भेद, भारथ रामायण भळै।
व्रजपति तूं जस वेद, वाचै वसदेरावउत ।।

कृष्ण-लीला के प्रसंगों का ही मुख्य गान करते हुए भी इस प्रकार के विभेद को न देखना कवि के अन्तर्मन की आस्था प्रकट करता है। दार्शनिक ऊँचाइयों पर पहुँचकर कवि ने कहीं-कहीं तो एक सर्वव्यापी सत्ता का ही आभास किया है—

तू कोमळ तू कठिण तूहिज मनहर मनरखण।
तू अतृपत तू तृपत तू हिज वेकल्ल विचक्खण ।।
तू दुरजण तू सजण तू हिज जोवण जर आगति। × × ×
अंधार तू हिज उद्योत तू तू हिज हेक त्रिभुवण तळै ।।

प्रिथीराज की इस भक्ति-भावना की तह में अगाध श्रद्धा तथा समर्पण की भावना सर्वत्र व्याप्त है—

आतम काया आथि, मनछा वाचा करमणा।
हरि मैं तोरै हाथ, बेच्या वसदेरावउत ।।

(हे हरि, मैंने आत्मा, काया, सम्पत्ति सभी को मन, वचन, कर्म से तुम्हारे हाथ बेच दिया है।)

प्रिथीराज की भक्ति की एक और विशेषता उनका *संन्यस्त और वैराग्य भाव* भी है। उनके काव्य में समर्पण के इर्द-गिर्द एक और झीना आवरण है, जिसमें उनकी निस्पृहता, अन्यमनस्कता, निर्लिप्तता, सभी वैराग्य के घेरे में समाती दृष्टि-गोचर होती है। अपने पिता की मृत्यु पर कहे गये उनके मार्मिक गीत की पंक्तियाँ इन भावों को बखूबी प्रकट करती हैं—

खाटी सो दाटी घर खोदे, साथ न चाली हेक सिळी।
पवनज जाय पवन विच पैठो, माटी माटी मांह मिळी ।।

(जो उपार्जित किया, वह जमींदोज़ कर दिया, एक तिनका भी साथ नहीं चला। पवन पवन में और मिट्टी मिट्टी में मिल गई।)

विरक्ति की प्रेरक ऐसी ही पंक्तियाँ लिखने के बाद कवि ने आत्म-समर्पण का निर्णय लिया होगा। उन्होंने अनुभव किया कि उस परम सत्ता के आगे किसी का वश नहीं है। तभी अन्तर्मन की पुकार गीत बनकर फूट पड़ी—

हरि जेम हलाड़ो तिम हालीजै, काई धणियां सूं जोर ऋपाळ।
मोळी दिवौ दिवौ छत्र माथै, देवो सो लेवूं स दयाळ ।।

(हे हरि, जिस प्रकार आप चलायें, उसी प्रकार चलना है, आपके आगे क्या जोर

है। भले ही सिर नर 'पोतिया' रखो या छत्र, जो दोगे वही स्वीकार है ।)

इस समर्पण के पीछे विवशता है और वही मानवी विवशता भक्ति में परिवर्तित हुई है। विवशता के चित्र भी खूब हैं—

'चीतारो खर सीस चित्र दे, काई पुतळियां पांण करै।'

(यदि चित्रकार पूतली को गधे पर बैठी हुई चित्रित कर दे तो पूतलियाँ क्या कर सकती हैं।—ऐसी ही स्थिति मानवों की है, जिन्हें परमात्मा किसी भी स्थिति में रख दे तो वे कुछ नहीं कर सकते।)

इसी विवशता-जन्य समर्पण में समाई भक्ति ने कवि को विनय-भाव दिया है, जिसका उल्लेख बार-बार किया गया है। वेलि के प्रारम्भ और समाप्ति दोनों ही स्थानों पर यह विनम्रता प्रकट हुई है—

जिणि दीध जनम जगि मुखि दे जीहा।
क्रिसन जु पोखण भरण करै॥
कहण तणौ तिणि तणौ कीरतन।
स्रम कीधां विणु केम सरै॥

(जिसने मुँह में जीभ देकर संसार में उत्पन्न किया है तथा जो कृष्ण ही भरण-पोषण भी करता है, उसका यशगान किये बिना कैसे रहा जाए?)

तूं तणै अनै तूं तणी तणा त्री।
केसव कहि कुण सकै क्रम॥
भलौ ताइ परसाद भारती।
भूंडौ ताइ माहरौ भ्रम॥

(हे केशव! तेरा और तेरी पत्नी का वखान कौन करने में समर्थ है! मैंने जो किया है, उसमें जो अच्छा लगे वह तो सरस्वती की कृपा है। और जो बुरा है, वह मेरे अज्ञान के कारण है।)

कृतित्व : एक मूल्यांकन

कवि के रूप में प्रिथीराज के कृतित्व का मूल्यांकन करते समय उनके देश-काल का ध्यान रखना आवश्यक है। आज की परिस्थितियों और साहित्यिक मूल्यों को सामने रखकर उस पर विचार करना उचित नहीं होगा। जिस समय अधिकांश डिंगल कवि परम्परागत तरीके और रूढ़ियों में जकड़े वर्णनों में ही रचना की इतिश्री समझते थे, उस समय प्रिथीराज की **'वेलि'** की रचना निस्सन्देह एक अभिनन्दनीय प्रयास माना गया था। तभी तो पारम्परिक ईर्ष्या के बीच पलते हुए कवियों ने मुक्त कण्ठ से **'वेलि'** की स्तुति की थी। 'वेलि' की संस्कृतनिष्ठ भाषा और उसे डिंगल के साँचे में ढालने की चतुराई प्रिथीराज की बहुत बड़ी विशेषता बन गई है। उससे उनके पाण्डित्य का भी सम्यक् आभास होता है। तत्कालीन

कवि-समाज में इस उच्च स्तर की शिक्षा-दीक्षा की सुविधाएँ बहुत कम लोगों को ही उपलब्ध हो सकती थीं।

एक उच्च कुल के राजवंश में जन्म लेने के कारण प्रिथीराज को जीवन के नानाविध रूपों, भोग-विलास के साधनों, युद्धों की विभीषिकाओं, जीवन के संघर्षों, स्त्री-समाज की गतिविधियों और अन्य अनेक प्रसंगों को निकटता से देखने के अवसर प्राप्त हुए थे। वे ही अनुभव उनके काव्य को उच्च स्तर पर ले जाने में सहायक हुए हैं। संगीत, नृत्य, चित्रकला आदि से परिचित होने के अवसर और ज्ञान-विज्ञान तथा धर्म-दर्शन आदि के आचार्यों से ज्ञानार्जन करने का सौभाग्य भी उन्हें मिला था। पर इन सबके होते हुए भी एक कवि का हृदय प्राप्त करना तो भगवद्-भक्ति से ही सम्भव था। प्रिथीराज पर वह कृपा हुई थी।

उनकी भक्ति के विषय में अनेक किंवदन्तियाँ प्रसिद्ध हैं। लोगों ने यहाँ तक प्रशस्ति की है कि प्रिथीराज के रूप में स्वयं नारायण ने ही 'वेलि' का प्रणयन किया था। यह अगाध श्रद्धा-जन्य भक्ति हृदय को एकाग्रता और विश्वासों की दृढ़ता प्रदान करती है। यही एकाग्रता और दृढ़ता काव्य-रचना के लिए भी आवश्यक है। काव्य व्यक्ति के विश्वासों और उसकी मान्यताओं का भावना और कल्पनाबद्ध प्रकटीकरण ही है। इसीलिए प्रिथीराज के काव्य में भावनाओं की गहराइयाँ स्थान-स्थान पर पाई जाती हैं।

युग के अनुकूल रूढ़ियों और परम्पराओं से बचना प्रिथीराज के लिए भी सम्भव नहीं था। इसलिए रूढ़िगत वर्णन भी उन्होंने किये हैं, पर उनमें अपने काव्य-कौशल से उक्ति-वैचिश्र्य का पुट देकर उन्होंने कुतूहल की सृष्टि कर दी है। रूपकों के माध्यम से उन्होंने अनेक मोहक चित्र उपस्थित किये हैं। शायद इसी कारण चित्रकारों ने 'वेलि' को अपने चित्रों के लिए उपयुक्त पाया। वेलि की सचित्र प्रतियाँ 'गीत गोविन्द' और 'ढोला मरवण' की चित्र-मालाओं की तरह प्रस्तुत की गई थीं।

डिंगल गीतों और स्फुट दूहों में कवि अन्य सामान्य कवियों के स्तर पर ही रह पाया है। एक भक्त के मुख से निकलने के कारण भी दूहों में गुणानुवाद के अतिरिक्त और क्या हो सकता था? तभी तो इन दूहों का लोग स्तोत्रवत् पाठ करते आये हैं। हाँ, गीतों में उनकी प्रतिभा थोड़ी मुखर हुई है। वैराग्य के कुछ गीत और राणा प्रताप के लिए लिखा गया प्रसिद्ध गीत वांछित भावनाओं का उद्रेक करने में सफल हुए हैं। एक श्रेष्ठ कवि, आदर्श भक्त और क्षत्रियोचित वीरत्व के धनी के रूप में प्रिथीराज का व्यक्तित्व डिंगल साहित्य में सर्वदा अभि-नन्दनीय रहेगा।

परिशिष्ट 'क'

रचनाओं से चुने हुए अंश

क्रिसन रुक्मिणी री वेलि से कुछ चुने हुए छंद

मंगलाचण

परमेसर प्रणवि प्रणवि सरसति पुणि, सद्गुरु प्रणवि त्रिण्हे ततसार।
मंगळ रूप गाइजै माहव, चार सु एही मंगळचार ॥१॥
आरंभ मैं कियो जेणि उपायौ, गावण गुणनिधि हूँ निगुण।
किरि कठचित्र पूतळी निजकरि, चीत्रारै लागी चित्रण ॥२॥
कमळापति तणी कहेवा कीरति, आदर करे जु आदरी।
जाणे वाद मांडियौ जीपण, वागहीण वागेसरी ॥३॥
जिणि सेस सहसफण, फणि फणि बिबिजिह, जीह जीह नव नवो रस।
तिणि ही पार न पायो त्रीकम, वयण डेडरां किसो वस ॥४॥
जिणि दीघ जनम जगि मुख दे जीहा, क्रिसन जु पोखण भरण करै।
कहण तणौ तिणि तणौ कीरतन, स्रम कीधां विणु केम सरै ॥५॥
सुकदेव व्यास जैदेव सारिखा, सुकवि अनेक ते एक संथ।
त्रीवरणण पहिलौ कीजै तिणि, गूंथियै जेणि सिंगार ग्रन्थ ॥६॥

बाल्यावस्था

रामाअवतार नाम ताइ रुखमणि, मानसरोवरि मेरगिरि।
बालकति करि हंस चौ बाळक, कनकवेलि बिहुं पान किरि ॥७॥
अनि वरसि वधै ताइ मास वधै ए, मास वधै ताइ पहर वधन्ति।
लखण बत्रीस बाळलीलामै, राजकुंअर ढूलड़ी रमन्ति ॥८॥

वयःसंधि

पहिलौ मुखराग प्रगट थ्यो प्राची, अरुण कि अरुणोद अंबर।
पेखे किरि जाणिया पयोहर, संध्या वंदण रिखेसर ॥९॥

जम्प जीव नहीं आवतौ जाणे, जोवण जावणहार जण।
बहु विलखी बीछड़ती बाळा, बाळसंघाती वाळपण ॥१०॥
आगाळि पित-मात रमंती अंगणि, काम-विराम छिपाड़ण काज।
लाजवती अंगि एह लाज विधि, लाज करंती आवै लाज ॥११॥

यौवनागम

वधिया तनि सरवरि वेस वधंती, जोवण तणौ तणौ जळजोर।
कामणि करग सु बाण काम रा, दोर सु वरुण तणा किरि डोर ॥१२॥
कामणि कुच कठिन कपोळ करी किरि, वेस नवी विधि वाणि वखाणि।
अतिस्यामता विराजति ऊपर, जोवण दाण दिखाळिया जाणि ॥१३॥
ऊपरि पदपलव पुनर्भव ओपति, न्रिमळ कमळदळ ऊपरि नीर।
तेज कि रतन कि तार कि तारा, हरिहंस, सावक ससिहर हीर ॥१४॥

शिक्षा

व्याकरण पुराण समृति सासत्र विधि, वेद च्यारि खट अंग विचार।
जाणि चतुरदस चौसठि जाणी, अनंत अनंत तसु मधि अधिकार ॥१५॥

वरकामना

सांभळि अनुराग थयौ अति स्यामा, वर प्रापति वंच्छती वर।
हरि गुणभणि, ऊपनी जिका हर, हर तिणि वंदे गवरिहर ॥१६॥

रुक्मिणी-हरण तक का कथा प्रसंग

प्रभणन्ति पुत्र इम मात-पिता प्रति, अम्हां वासना वसी इसी।
ग्याति किसी राजवियां ग्वाळा, किसी जाति कुळ पांति किसी ॥१७॥
प्रभणै पित-मात पूत मत पांतरि, सुरनर नाग करै जसु सेव।
लिखमी समी रुकिमणी लाडी, वासुदेव सम सुत वसुदेव ॥१८॥
आगमि सिसुपाळ मंडिजै ऊछव, नीसाणे पड़ती निहस।
पटमंडप छाइजै कुंदणपुरि, कुंदणमै बाझै कळस ॥१९॥
राजान-जान संगि हुता जु राजा, कहै सु दीध ललाटि कर।
दूरा नयर कि [कोरण दीसै, धवळागिरि किना धवळहर ॥२०॥
जाळी मगि चढि-चढि पंथी जोवै, भुवणि सुतन मन तसु भिळित।
लिखि राखे कागळ नखलेखणि, मसिकाजळ आंसू मिळित ॥२१॥
मम करिसि ढील, हिव हुए एकमन, जाइ जादवां-इंद्र जत्र।
माहरै मुखि हुंता ताहरै मुखि, पगवंदण करि देइ पत्र ॥२२॥

गई रवि किरण ग्रहे थई गहमह, रहरह कोइ वह रहे रह।
सुज दुज पुरा नीसरे सूतौ, निसा पड़ी चालियौ नह ॥२३॥
पणिहारि पटळदळ, वरण चंपकदळ, कळस सीस कटि कर कमळ।
तीरथि तीरथि जंगम तीरथ, त्रिमळ ब्राहमण जळ विमळ ॥२४॥
कस्मात् कस्मिन् किल मित्र किमर्थं, केन कार्यं परियासि कुत्र।
ब्रहि जनेन येन भो ब्राह्मण, पुरतो मे प्रेषितम् पत्र ॥२५॥
आणंद लखण रोमांचित आंसू, वाचत गदगद, कंठ न वर्णे।
कागळ करि दीधो करुणाकरि, तिणि तिणि हीज ब्राहमण तणै ॥२६॥
वळिबंधण मूझ स्याळ सिंघ बळि, प्रासै जो बीजौ परणै।
कपिल धेनु दिन पात्र कसाई, तुळसी करि चांडाळ तणै ॥२७॥
सुग्रीवसेन नै मेघपुहुप, समवेग बळाहक इसै वहन्ति।
खंति लागौ त्रिभुवनपति खेड़ै, धर गिरि पुर साम्हा धावंति ॥२८॥
चळपत्र पत्र थियौ दुज देखे चित, सकै न रहति न पूछि सकन्ति।
औ आवै जिम जिम आसन्नौ, तिम तिम मुख धारणा तकन्ति ॥२९॥
राणी तदि दूवौ दीध रुखमणी, पति सुत पूछि पूछि परिवार।
पूजा व्याज काज प्री परसण, स्यामा आरंभिया सिणगार ॥३०॥
कुमकुमै मंजण करि धौत वसत धरि चिहुरे जळ लागौ चुवण।
छीणे जाणि छछोहा छूटा, गुणमोती मखतूल गुण ॥३१॥
अणियाळा नयण बाण अणियाळा, सजि कुंडळ खुरसाण सिरि।
वळे बाढ़ दे सिळी-सिळी वरि काजळ-जळ वाळियौ किरि ॥३२॥
ज्यूं सहरी भ्रूह नयणमृग जूता, विसहर रासि कि अलकवक्र।
वाळी किरि वांकिया बिराजै, चंद रथी ताटंक चक्र ॥३३॥
सिणगार करे मन कीधौ स्यामा, देवितणा देहरा दिसि।
होड छंडि चरणे लागा हंस, मोती लगि पाणही मिसि ॥३४॥
चकडोळ लगै इण भांति सुं चाली, मति तैं वाखाणण न मूं।
सखी समूह मांहि इम स्यामा, सीळ आवरित लाज सूं ॥३५॥
आकरषण वसीकरण उनमादक, परठि द्रविण सोखण सर पंच।
चितवणि हसणि लसणि गति संकुचणि, सुंदरि द्वारि देहरा संच ॥३६॥
नन पंगु थियो सहु सेन मूरछित, तह नह रही संपेखतै।
किरि नीपायौ तदि निकुटीए, मठपूतळी पाखाणमै ॥३७॥
बळिबंध समरथि रथ ले बैसारी, स्यामा कर साहे सुकरि।
वाहर रे वाहर कोइ छै वर, हरि हरिणाखी जाइ हरि ॥३८॥

युद्धवर्णन

अपूड़ी रजी मझि अरक एहवौ, वातचक्र सिरि पत्र वसन्ति ।
सद नीहस नीसाण न सुणिजै, वरहासां नासां वाजन्ति ॥३९॥
बिळकुळियौ वदन जेम वाकार्‌यौ, संग्रहि धनुख पुणच सरसंधि ।
क्रिसन रुकम आउध छेदणकजि, वेलखि अणी मूठि द्रिठि बंधि ॥४०॥

द्वारिका का प्रसंग

मुकुरमै प्रोळि प्रोळिमै मारग, मारग सुरंग अवीरमई ।
पुरि हरि सेन एम पैसार्‌यौ, नीरोवरि प्रविसंति नई ॥४१॥

विवाह

पधरावि त्रिया वामै प्रभणावे, वाच परसपर यथाविधि ।
लाधी वेळा मांगी लाधी, निगम पाठके नवे निधि ॥४२॥

शयनगृह

मंदिरंतरि किया खिणंतरि मिळिवा, विचित्रे सखिए समावृत ।
कीजै तिणि वीवाह संसक्रित, करण सुतणु रति संसक्रित ॥४३॥

संध्यावर्णन

संकुड़ित समसमा संध्या समयै, रतिवंछिति रुखमणि रमणि ।
पथिक वधू द्रिठ पंख पंखियां, कमळपत्र सूरिज किरणि ॥४४॥

रतिक्रीड़ा

एकन्त उचित क्रीड़ा चौ आरंभ, दीठौ सु न किहि देवदुजि ।
अदिठ अश्रुत किम कहणौ आवै, सुख ते जाणणहार सुजि ॥४५॥

प्रभातवर्णन

वाणिजां वधू गोवाछ असइ विट, चोर चकवा विप्र तीरथ वेळ ।
सूर प्रगटि एतला समपिया, मिळियां विरह, विरदहियां मेळ ॥४७॥

ऋतुवर्णन

कसतूरी गारि कपूर इंट करि, नवै विहाणै नवी परि ।
कुसुम कमळ दळ माळ अलंक्रित, हरि क्रीड़ै तिणि धवळहरि ॥४८॥
काळी करि कांठळि ऊजळ कोरण, धारे श्रावण धरहरिया ।
गळि चालिया दिसोदिसि जळग्रभ, थंभि न विरहिण नयण थिया ॥४९॥

काजळ गिरि धार रेख काजळ करि, करि मेखळा पयोधि कटि।
मामोलौ बिन्दुलौ कुंकुमैं, पृथिमी दीध निलाट पटि ॥५०॥
पीळाणी धरा ऊखधी पाकी, सरदि काळि एहवी सिरी।
कोकिल निसुर प्रसेद ओसकण, सुरति अंति मुख जिम सुत्री ॥५१॥
छवि नवि नवि नवनवा महोच्छब, मंडियै जिणि आणंदमई।
कातिग घरि-घरि द्वारि कुमारी, थिर चीत्रंति चित्रांम थई ॥५२॥
उळझाया तनमन आप आपमैं, विहृत सीत रुखमिणी वरि।
वाणि अरथ जिम सकति सकतिवंत, पुहपगंध गुण गुणी परि ॥५३॥
वीणा डफ महुयरि वंस बजाए, रोरी करि मुख पंचम राग।
तरुणी तरुण विरहिजण दुतरणि, फागुण घरि घरि खेलै फाग ॥५४॥
दस मास समापित गरभ दीध रित, मनव्याकुल मधुकर मुणणंति।
कठिण वेयणि कोकिल मिस कूजति, वनसपती प्रसवती वसंति ॥५५॥
तरतौ नदि नदि ऊतरतौ तरितरि, वेलिवेलि गळिगळै विलग्ग।
दखिण हूंत आवतौ उतर दिसि, पवन तणा तिणि वहै न पग्ग ॥५६॥

पुत्रजन्म

वसुदेव पिता सुत थिया वासुदे, प्रदुमन सुतपित जगतपति।
सासू देवकी रामा सुवहु, रामा सासू बहू रति ॥५७॥

माहात्म्य

परिवार पूत पोत्रे पड़पोत्रे, अरु साहृण भंडार इम।
जग रुखमिणि हरि बेलि जपंतां, जगपुड़ि वाधै वेलि जिम ॥५८॥

वेलिरूपक

वल्ली तसु बीज भागवत वायौ, महिथाणौ प्रिथुदास मुख।
मूळ ताल जड़ अरथ मंडहे, सुथिर करणि चढि छांह सुख ॥५९॥
पत्र अक्खर दळ द्वाळा जस परिमळ, नवरस तंतु बिधि अहोनिसि।
मधुकर रसिक सु भगति मंजरी, मुगति फूल फळ भुगति मिसि ॥६०॥

कविकथन

भाषा संस्कृत प्राकृत भणंता, मूझ भारती ए मरम।
रसदायिनी सुंदरी रमतां, सेज अंतिरिख भूमि सम ॥६१॥
ज्योतिषी वैद पौराणिक जोगी, संगीती तारकिक सहि।
चारण भाट सुकवि भाखा चत्र, करि एकठा तो अरथ कहि ॥६२॥

हरिजस रस साहस करे हालिया, मो पंडिता वीनती मोख।
अम्हीणा तम्हीणे आया, श्रवण तीरथे वयण सदोख ॥६३॥
रूप लखण गुण तणा रुखमिणी, कहिवा सामरथीक कुण।
जाइ जाणिया तिसा मैं जंपिया, गोविंद राणीतणा गुण ॥६४॥

वसदेरावउत रा दूहा

मथरा नगर मंझार; तट जायौ जमुना तणै।
बाळा तिणि बळिहार, वेळा वसदेरावउत ॥१॥
रथ बणियौ पंखराव, वामै अंग राधा वणी।
विच ताहरौ बणाव, वणियौ वसदेरावउत ॥२॥
तो आगै तरुआरि, नांखे हरि नमिया नहीं।
हार्यां आगळि हार, व्हैसी वसदेरावउत ॥३॥
माहरी थयी मुरार, गोविंद तो लागी गुणै।
सुक्यारथी संसार, वाणी वसदेरावउत ॥४॥
गाया नह गोपाळ, श्रीवर तो नाया सरणि।
केसव गयौ ज काळ, व्रिथा स वसदेरावउत ॥५॥
गोपवधू गोपाळ, लागी गळि अहवी लसति।
तणियौ कनक तमाळ, विलसत वसदेरावउत ॥६॥
माखण रतन मथेह, काढै पै लीधा किसन।
छाड्यो छाछ करेह, वारिध वसदेरावउत ॥७॥
पग पाताळि पइट्ठ, माथौ व्रहमंड ले मिळै।
दांणव अहवौ दिट्ठ, वामण वसदेरावउत ॥८॥
तूं आयौ तूं आइ, सव ही दिन भगतां संगठ।
सिमरीजतां सहाइ, विलंब न वसदेरावउत ॥९॥
आठों पहर अनंत, गोविंद तूं गावण तणो।
लागो लखमीकंत वसनत वसदेरावउत ॥१०॥
आतम काया आथि, मनछा वाचा करमणा।
हरिमैं तोरै हाथि, वेच्या वसदेरावउत ॥११॥
क्रिपा करै करतार, दामोदर दासां तणी।
सामि संबाहणहार, वासौ वसदेरावउत ॥१२॥
सिरि तुळछी गळ सूत, तोरो ध्रम राजा तणो।
देखे टळिया दूत, वांनो वसदेरावउत ॥१३॥
जे हरिमंदिर जाइ केसव ची न सुणी कथा।
नगरे काठी न्याय, वेचै वसदेरावउत ॥१४॥

गोविंद जिण गोवाड़ि, कीजै नंह तोरी कथा।
रखिजै ताहि उजाड़ि, वसती वसदेरावउत ।।१५।।

दसरथदेवउत रा दूहा

पिंड ब्रह्मंड पळोइ, क्रम पासा जुग सारि करि।
केसव भूलउ कोइ, दाव न दसरथदेवउत ।।१।।
परठै पाट प्रवीत, बैठा सिखरै बांधियै।
सोहै दुलहणि सीत, दूलह दसरथदेवउत ।।२।।
माहरी बेड़ी मांहि, हरि ! जे सिलवाळी हुवै।
कुटुंब-खुध्या दुख काहि, दाखां दसरथदेवउत ।।३।।
वैठो तूं अणबीह, प्रसथानै परमेसवर।
आसू अजवाळीह, दसमी दसरथदेवउत ।।४।।
करि अंबहर करागि, घर रांमण भीतरि घटा।
खिवी तुहारअि खागि, दांमणि दसरथदेवउत ।।५।।
रोयां लाभै राज, रजा तुम्हारै रामचंद।
इवड़उ कोइ न आज, दूजो दसरथदेवउत ।।६।।
गिरि महले पुरि ग्रामि, मारगि जळ थळ माहरै।
सरण विदेसै सामि, देसै दसरथदेवउत ।।७।।
प्रभु ताइ किया प्रवीत, जाइ समरपिया संखधर।
गाहा, कवित, छंद, गीत, दूहा दसरथदेवउत ।।८।।

भागीरथी रा दूहा

कीया पाप जिकेह, जनम-जनम मइं जूजुवा।
तइं भांजिया तिकेह, भेळा ही भागीरथी ।।१।।
जपियौ नांम न जीह, निज जळ तन पीधौ नहीं।
देवि त धवळइ दीह, भूला ताइ भागीरथी ।।२।।
माता माणसियांह, जाया जाणीता नहीं।
ताहरइ मंजण थयांह, भूप थया भागीरथी ।।३।।
माता ला भइ माग, तूझ सनाने सुरसरी।
आफळियइ को आंग, भैरवझंप भागीरथी ।।४।।
चन्द्रार्णाणि चउरेह, आइज आंगउ बांविजइ।
तरंगे तूझ तणेह, भीना जे भागीरथी ।।५।।
करि-करि धरि-धरि काम, थारइ तर थाका थिया।
वडनदि ! दे विसराम, भ्रमिया बहु भागीरथी ।।६।।

काया लागौ काट, सिकलीगर सुधरै नहीं।
निरमळ होइ निराट, तूं भेट्यां भागीरथी ।।७।।
गंगाजळ गुटकीह, निरणै ही लीधी नहीं।
भव-भव में भटकीह, भूत हुवा भागीरथी ।।८।।
मौड़ौ आयौ माय, तैं वेगो ही तारियौ ।
पड़ियौ रहसूं पाय, भाटो हुइ भागीरथी ।।९।।
जाळ्या पुत्र जिकेह, साठ सहस सागर तणा।
तैं तारिया तिकेह, भेळा ही भागीरथी ।।१०।।
ताहरउ अद्भुत ताप, मात संसारे मानियउ।
पाणी मुंहड़इ पाप, जाळइ तूं जाहरणवी ।।११।।
न्हाये पीयूं नीर, समरूं जपतां सुरसरी ।
तपत वसूं तो तीर, जोवंतां तो जाह्नवी ।।१२।।
पुळियै मग पुळियाह, दरस हुवां अदरस हुवा।
जळ पैठे जळियाह, मंदाक्रम मंदाकिनी ।।१३।।

वल्लभदेवउत (विट्ठल) रा दूहा

लोहै पारस नीब श्री, खिण अधारै धाम ।
कूड़ै मो साचो कुसन, मेळणहार प्रणाम ।।१।।
जिण अम्ह सूं आलोज, दामोदर दरसावियौ।
सगळां पायो सोज, वाल्हौ वल्लभदेवउत ।।२।।
पाए पाणे जाह, ग्रहि वाल्हा गोकळ तणा।
वीठळ वांदेवाह, आतम ऊमाहो कियो ।।३।।
वाउवौ वीठळ केह, चलणे चालेवा करै।
कांही क्रम्म तणेह, बंधणे बांधाणूं रहै ।।४।।
प्रिथु प्रिथमी पिंड पार,माथौ ताइ मथुरा मंडळि।
सुयो निलाट संसार, वीठळ तिलकवहा रहै ।।५।।
नर अन नीचै ठाम, वसतौ वेसासै नहीं।
वाइस मन विसराम, वीठळ ध्रजावहा रहै ।।६।।
अनि त्रिलोक त वाह, सोझंता सूझै नहीं।
आरीसौ आणाह, दीठौ वल्लभदेवउत ।।७।।
जिण वीठळ जूथेह, पूछै प्रभु ज्यां पोखियौ।
दीपक दीह करेह, जाणै जगचख जोइयौ ।।८।।
चंदा चौथि तणाह, सुकला भाद्रव संगमें।
अभगत मुख्य एहाह, श्री वल्लभउत बाल-ससि ।।९।।

अवरां मंत्र अपार, कूवा ना कूरम जिही।
बैठा करि बाधार विठलेसर दीधा वयण ॥१०॥
जग बैसे जगतोइ रहै, प्रिथ करि छांई परक्ख।
तूं घर वल्लभदेवसुत, वीठळ बिया विरक्ख ॥११॥

डिंगळ गीत

माताजी रो गीत

देवीस्तुति :—

आई आवजे, व्रणछळ आवीजै, देवी साद सुमरियां दीजै।
बळतज कवण पुकारूं बीजैं, काछराय मो ऊपर कीजै ॥१॥
छिलतै तेज रथे पाय छणहूण, वेगा खेड़ नत्रीठा-वाहूण।
त्रसकत सेवक करण त्रिभैतीण, आवीजै ग्रहीयां उग्राहूण ॥२॥
चाळकनै मढ हूतो चाचर, काछ-पंचाळ ममे छेडा करि।
झींझळियाळ स देवत-झूलर, आवीजो जन संकट ऊपर ॥
स्रवणै साल्हळ सुणो सचाळी, धायज्यो चारण धाबळियाळी।
'पीथल' वाहूर काछ पंचाळी, लाल मिळो मुझे हेकण ताळी ॥३॥

भक्ति तथा अध्यात्म

राव कल्याणमल री मिरतू पर कैयोड़ो गीत

सुखरास रमंता पास सहेली, दास खवास मोकळा दाम।
न लियो नाम पखै नारायण, कलिया उठ चालिया वेकाम ॥१॥
माया पास रही मुळकंती, सज सुंदरि कीधां सिणगार।
बहु परवार कुटंब चौ बाधो, हरि विण गयो जमारो हार ॥२॥
हास हसंता रह्या धौळहर, सुखमैं रासत ज्यूं संसार।
लाखां धणी प्रयाणै लांबै, जातां नह भेजिया जुहार ॥३॥
भाई बंध कडूंबो भेळो, पिंड न राखो हेक पुळ।
चापरि करै अगनि सिर चाढो, काढो-काढो कहै कुळ ॥४॥
असिया रह्या पग्ग आफळता, मदझर खळहळता मैमंत।
वहळो धणी सिंघासण वाळो, पाळो होय हालियो पंथ ॥५॥

देहळी लग महळी पिण दौड़ी, फळसा लग मा-वहण फिरी ।
मड़हट लगौ कुटंब चो मेळो, किणियन सुखदुख बात करी ॥६॥
कोमळ अंग न सहतो कळियां, ताती झळियां सहै तप ।
घड़ी घड़ी कर तड़ी धोवियौ, वड़ी-बड़ी वाळियौ वप ॥७॥
केसर चनण चरचतो काया, भणहणता अपूर भमर ।
रजियौ राख तणै पूगरणै, घणां मुसाणां बीच घर ॥८॥
खाटी सो दाटी घर खोदे, साथ न चाली हेक सिळी ।
पवन ज जाय पवन विच पैठो, माटी माटी मांहि मिळी ॥९॥

सोहलो

दुलह क्रिसन दुलहण राणी राधिकाजी, वधावो जसोमति माय ।
पाट नै सिंघासण प्रभुजी रै सोवनो, सोवन छत्र तणाय ॥१॥
कुंवरी लाडली हो राजा वृषभाण री, आणी आणी नन्दकुमार ।
उण गळि सोहै चउकी जड़ाव री, उण गळि नवसर हार ॥२॥
तोरण घड़ावो चंदण बावनो, वंधावो गोकुळजी री प्रोळि ।
कळस भरावो केसर कपूर सूं, भीति करांवागी खोळि ॥३॥
चौक पुरावां माणक मोतियांजी, रतन भरावां थाळ ।
करो नी सहोद्रा बहिणी आरती, आया घर वीर गोपाळ ॥४॥
सोहलो गायो प्रिथीराज राठौड़ जी, कासूं कासूं पायो दान ।
पाई जी खवासी दुहुं की दुहुं जणां, बिहुं जण रहियो मान ॥५॥

गीत

हरि ! जेम हलाड़ो तिम हालीजै, कांय धण्यां सूं जोर क्रिपाळ ।
मोळी दिवो, दिवो छत्र माथै, देवो सो लेअूं स दयाळ ॥१॥
रीस करो भावै रळियाइत, गज भावै खर चाढ़ गुलांम ।
माहेरै सदा ताहरी माहव, रजा सजा सिर अूपर रांम ॥२॥
मूझ उमेद बड़ी महमहण, सिंघुर पाखै केम सरै ।
चीतारो खर सीस चित्र दै, किसूं पुतळियां पांण करै ॥३॥
तूं सामी पृथुराज ताहरो, बळि बीजा को करै बिलाग ।
रूड़ो जिको प्रताप रावळो, भूंडो जिको अमीणो भाग ॥४॥

गीत

पंथिया रे हेकै प्रीत संदेसौ, कहिजौ जाइ आगळि केसौ ।
नंद जसोदा नेह अनेसौ, अम्हां कियां पै एह अंदेसौ ॥१॥

एक सुदिन जे गोकळ आयौ, धाइ जसोदा अंचळ धायौ।
ग्वाळणियां मिळि मंगळ गायौ, वीठळै जाइ समंद्र बसायौ ।।२।।
वीसारी हरि करी विडाणी, वाणी एह वदै विलखाणी।
निधि द्वारिका मंडी रजधाणी, रहिया रीझि रुकमणी राणी ।।३।।
नयणै आंसू उर नेसासा, अबळा विह्वळ थई उदासा।
उर अगलूणी बंधै आसा, प्रीथु न छंडै जमना पासा ।।४।।

गीत

रखयाळ बड़ा तो बिण कुण राखै, नमो पराक्रम नारियण।
ओम गोम बिच दीसै अवगत, जळ में प्राजळती जळण ।।१।।
कुण राखै तो विण करुणाकर, मान संसार बिचार मन।
अंबर धर दीसै आधंतर, अंब विचै हुवती अगन ।।२।।
जग एकठा बिन्है जगजीवन, सुतो किसी परि राखै स्यांम।
जळण अंब नह सकै अूझमैं, अंब सकै नह जळण उझांम ।।३।।
वांनी बिन्है एकठा वादळ, करुणाकर बिण कवण करै।
अंब तणै सिर झाळ अूभरै, झाळ तणै सिर अंब झरै ।।४।।

यश-गीत

सांदू रामै रो

गयौ तूं भलां भलां तूं न गयौ, धिन धिन तूं सांदवां धणी।
जाडै अणी मांहेड़ो जाकळ, अणी करण पातळा अणी ।।१।।
तैं लिय आहव रांण त्रिजड़ हथ, ले लांघण सांसण न लिया।
सोहै ससत्र सालिया सात्रव, कंठ सोहै न खालिया किया ।।२।।
दळ आपरो नत्रीठो दीन्हो, घाये लीन्हा प्रिसण घणा।
आंबाहरा न बीजा ओपम, तागां वाळा नसा तणा ।।३।।
चारण जाणै मांय चारणां, अबै समै बिच नथ-अनथ।
धरमा तणो न बैठो धरणै, रांमो बैठो रंभ रथ ।।४।।

सेरखांन रो

सिर झूर हुवो चढि खागै सेरा, सासि प्रामियो ज्योति संगाथ।
आदम गयो धूणतो उतबंग, हूरां गई मसळती हाथ ।।१।।
कण-कण कमळ कियो अबदूकां, पनां खुदाय तो हूंस पिण।

तसनी विण अैनयण गयो तिण, बेगम रथ गा खसम बिण ।।२।।
कमळ पठाण कियो चढ़ि कुटके, मिळी ज्योति रहमांण मझारि ।
गवरां-वर सिणगार पखो गो, निवर गई परचंगां नारि ।।३।।

दलपतसिंह रायसिंघोत रो

दला दियंती ओळमा जैतमाल दिसा, निस अरध जागवी थाट नमियो ।
साहिजादी तणै महल नवसांहसो, रासउत दोपहर तेण रमियो ।।१।।
रौदघड़ राव रावळ रमै आधरत, भाग सोभागणी कमध भीनो ।
मुगळण आंगणै पेम रस मांणवा, दलै दीहां भलो मोहत दीन्हो ।।२।।
हारमें चीर गजमीर खंडत हुये, पहर सुज पाधरै खेत पाली ।
जवनणी तणी घड़ पूंगड़ी जीव ले, होड गहणा हसम छोड़ हाली ।।३।।

पाहू भीमा रो

भरि सूतां अपनै भीमा, रूक वहै लूविया रिम ।
किम संभरी, तरवार ग्रही किम, किम काढी, वाही सु किम ।।१।।
पोदियै जु तैं कियो राव पाहू, भारथ हूं अधिको भाराथ ।
वांमै तणै दाहिणै वळियो, हाथ वैर वाहंतै हाथ ।।२।।
तन डोलिया पछै, डूंगरतण, सूतै नींद जुते संभवै ।
सारहली चत्रवार साचवी, हेकिणि जिणि वारवाण हुवै ।।३।।

महाराणा प्रताप-प्रशस्ति

घर बांकी दिन पाधरा, मरद न मूकै माण ।
घणां नरिंदां घेरियो, रहै गिरंदां राण ।।१।।
माई अहड़ा पूत जण, जहड़ा राण प्रताप ।
अकबर सूतौ ओझकै, जांण सिराणै सांप ।।२।।
चौथो चीतोड़ाह, बांटो बाजती तणो ।
दीसै मेवाड़ाह, तो सिर राण प्रतापसी ।।३।।
हिन्दूपति परताप, पत राखी हिन्दवाण री ।
सहे विपति संताप, सत्य सपथ करि आपणी ।।४।।
पातल खाग प्रवाण, साची सांगाहर तणी ।
रही सदा लग राण, अकबर सूं ऊभी अणी ।।५।।
सह गावड़िया साथ, एकण वाड़ै वाड़िया ।
राण न मानी नाथ, टांडै सांड प्रतापसी ।।६।।

अइरै अकबरियाह, तेज तुहाळै तुरकड़ा ।
नमनम नीसरियाह, राण बिना सह राजवी ॥७॥
वाही राण प्रतापसी, वगतर में वरछीह ।
जाणक झींगर जाळ में, मुंह काढ्यौ मच्छीह ॥८॥
वाही राण प्रतापसी, वरछी लचपच्चांह ।
जाणक नागण नीसरी, मुंह भरियो बच्चांह ॥९॥
पातल घड़ पतसाहरी, अेम विधूंसी आण ।
जाण चढ़ी कर बंदरां, पोथी वेद-पुराण ॥१०॥

गीत

नर जेथ निमाणा, मिलजी नारी, अकबर गाहक वट अवट ।
चौहटै तिण जाय'र चीतोड़ो, वेचै किम रजपूत वट ॥१॥
रोजायतां तणै नवरोजै, जेथ मुसाणा जणोजण ।
हिन्दूनाथ दिली चै हाटै, पतो न खरचै खत्रीपण ॥२॥
परपंच लाज दीठ नंह व्यापण, खोटो लाभ अलाभ खरो ।
रज बेचवा न आवै राणो, हाटे मीर हमीरहरो ॥३॥
पेखै आप तणा पुरसोतम, रह अणियाळ तणै बळ राण ।
खत्र बेचिया अनेक खत्रियां, खत्रवट थिर राखी खूमाण ॥४॥
जासी हाट, बात रहसी जग, अकबर ठग जासी एकार।
रह राखीयौ खत्रीध्रम राणै, सारा ले बरतो संसार ॥५॥

प्रकीर्णक

चंपादे के दूहे

चंपा चव पासेह, अति अूंडइ पथ डोहियो ।
दरस विकसती देह, हल आया हरराजउत ॥१॥
चंपा तिल अम्ह चीत, वात तुम्हीणो वासियो ।
हिव जू फूली प्रीत, मोहीयइ हरराजउत ॥ २॥
चंपा चढ़ी सुवास, मो मन माळी हरतणी ।
नैण सुगंधी वास, हीय अणइ हरराजउत ॥३॥
चंपा चउकइ काढि, उपजइ दाखिजसइ नहीं ।
तन सूं तन ची चाढि, काइ हरि सूं हरराजउत ॥४॥
चंपा चउसर माळ, गूंथेनइ घातो गळइ ।
काइ तोसूं इकताळ, काइ हरि सूं हरराजउत ॥५॥

सजण घणा ही संपजै, काळा अनै कुव्रन्न।
म्हांका सयणां सारिखा, संमदे नहीं रतन्न ।।६।।
सज्जणिया सालै नहीं, साले आहीठांण।
समरि-समरि पिंजर भए, देख-देख अहिनांण ।।७।।
हंसो चीतै मानसर, चकवी चीतै भांण।
तिम हूं तूनैं चीतवूं, भावै जांण म जांण ।।८।।
साजीणी थारी थकी, भावै जांण म जांण।
चिल्लै चढी कमाण ज्यूं, त्यूं भावै त्यूं तांण ।।९।।

कूट दूहा

पुरख एक पांगळो, जीह बिण कीरत जंपै।
नख चख स्रवण बिहूण, तास बोल्यां उर कंपै ।।
हुवै सुथिर दरबार, बांध गजबंध चलावै।
मया करै महपती, तास सूसोभा पावै ।।
अरथाट अड़ण सूरा सकज, परदळ हाका पेलणो।
पीथल कहै अू कवण नर, जास पखै जस बोलणो ।।
तोप गौरंग कल्याणतण, गयो ज डसण अगाह।
मिणकिर अरि डसिया नहीं, अरथ ज दूहा मांह ।।

छप्पय

हूं अूजड़ हालियौ, वार आसंनी हूंती।
म्हैं कोहर सींचियौ, तीर सुरसरी वहंती ।।
मेल्हे चंदण कंठ, आवि बावळियो घसियो।
छाडे सज्जण सयण, बीड़ां भीतर होय वसियो ।।
कीरतन न कीधो स्रीक्रिसन, कर जोड़े त्रयभुवण कर।
व्रांसियौ जु मैं वाखाणियौ, नारायण विणि अवरनर ।।१।।
संखासुर संघारि, मच्छि सायर माणिज्जै।
मेर कोम उद्धोर, धरा वाराहि धरिज्जै ।।
हरिणाकुस पाधरै खेत्रि, नरसिंघ वहिज्जै।
बळि बायणि बांधिजै, धरा फरसधर दिज्जै ।।
संघारि कुंभ रामण सहित, लंका राघव लुट्टियै।
विपरीत काळ आगा किसन, तू छोडावि त छुट्टियै ।।२।।
लोभ मोह जळ वहळ, लहै त्रिस्णा अनिमंधी।
कुमति फैण अूछळै, अगम चिन्ता तटबंधी ।।

काम क्रोध अति रौद्र, ग्राहतैं संगि मरिज्जै।
नहीं सुक्रित बोहित्थ, जेणि अवलंबि तरीजै।।
माया समुद्र गोपाळ हरि, दै बूडत आलंबपण।
करता अनंत पावै न को, सभा मित्र बंधू सयण।।३।।

कुण्डळिया

अरक रातंबर ऊगवै, तित्ते सिर धर सेस।
तूझ सर (ऐके) राजै नहीं, अइयो मुरधर देस।।
अइयो मुरधर देस, कनेरां सुहावणां।
लोई धावळ वेस, घटक्का लावणां।।
केहरलंकी नारि, कुरंगी नैणियां।
बोलै घर-घर मांझ, सुकोकिल वैणियां।।१।।
कोकिल बैणी कामणी, केसर बरणै गत्त।
पिव रत्ती अणरत्त पर, हेत हरंदे चित्त।।
हेत हरंदे चित्त, कै रंग सुरंगियां।
लग्गै कंचन खंभ, कै वैणी उरग्गियां।।
काजळ टीलो कढाय, कै भ्रह धानंख सी।
फिर नग्गी समसेर, अपच्छर उरबसी।।२।।
अपच्छर जेही उरवसी, रंगी लोई बेस।
पूंगळ केरी पदमणी, त्रिया मुरद्धर देस।।
त्रिया मुरद्धर देस, कै छैलां टोळियां।
कांसू सायिबराज, कै मीठी बोलियां।।
पावै गळियां पैंठ, कै करवत संधियां।
तायै धूमरपान, जिण्हांरा लंधियां।।३।।

पिंगल/ब्रजभाषा की रचनाएँ

कन्हैयानृत्याष्टकं

थागड़दिक थागड़दिक (दिक) ततथई ततथई, निरतत स्याम सबन सुख दईया।
सुन संगीत निरति (अति) अद्भुत, चकित चंद जल उलट चलईया।।
थक मृग थकित थकित सुर गन्ध्रव, सुर विमान सब थकितत रहिया।
सकल प्राण प्रिथीराज सुकवि कहि, बजत मृदंग तत नचत कन्हैया।।१।।
द्रुद्रु द्रुकट (द्रुकटि) दुरकटि धुनि, धपमप धपमप धपमप धैया।
फिर फिर ताल झंझरी झनकत, ततथई ततथई धुनिकनथैया।।

घुंघरू घनन घमक पग नेउर, तांतां तननन बीन वजैया।
सकल प्राण प्रिथीराज सुकवि कहि, बजत मृदंग तत नचत कन्हैया ।।२।।

राधा नखशिख षट्पदी

कटि रंभ हरि चक्क इंदु दीपक भृंग विषधर।
तरण तट्ट सिख पुनय दिवस खय अकल मद्दझर ।।
नील सुजल जुप प्रेम सरद निस दंभ अकंचस।
चंदन वनग्रह गयंद सयल तकि कपूर विजस ।।
गति जंघ लंक उर बदन भनि, नासक चख वेणी वरण।
यह रूप भूप प्रिथीराज कह, मिले कान्ह राधा रमण ।।१।
उरगमीन लोय तड़ित, कुंभ सिह कंदल अंबुज।
उरुन मध्य वन कनक, व्रखा निसि वरन स्याम ध्रुज ।।
नगर गंग पुर तिमर, सुघट तकि···मानसर।
सद कपूर मद झरत, लताथिर चपल मलयतर ।।
कंव्वरि नयन नासक दसन, कुचकटि—जंघव चरन।
विमल बाग राधे चली, मनु अनंग को जय करन ।।२।।

स्फुट

प्रिथु मोतिन की माल है, प्रोई काचै तागि।
जतन करो झाटा बहुत, तूटेगी कहुं लागि ।।१।।
पियु विछरत प्रिथदास सुनि, अिही काम सरि सिद्धि।
मो हियरा महवाल जिम, रहे दुहूंगा विद्धि ।।२।।
मो मन तो रससौं लग्यो, तो तनु नैकु भिदे न।
ज्यों पिथिराजहि मंत्र बल, सस्त्र घात लागेन ।।३।।
मन कहिया चित्त न करै, चित क्रित करै सु होइ।
इन दुहुवन झगरो परो, प्रिथ प्रभु करै सु होइ ।।४।।

परिशिष्ट 'ख'

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. दीक्षित, आनन्द प्रकाश—वेलि क्रिसन रुक्मणी री
२. साकरिया भूपतिराम—महाकवि पृथ्वीराज राठौड़ : व्यक्तित्व और कृतित्व
३. राजस्थान भारती (पृथ्वीराज राठौड़ जयन्ती विशेषांक—नवम्बर १९६०)
४. व्यास, भोलाशंकर—प्राकृत पैंगलम्
५. लाळस, सीताराम—रघुवर जसप्रकास
६. पुरालेख संग्रह—डिग्गी ठिकाने के कागजात
७. मुंशी, सोहनलाल—तवारीख बीकानेर
८. कुंवर, कन्हैयाजू देव—बीकानेर राज्य का इतिहास
९. ओझा, गौरीशंकर हीराचंद—बीकानेर राज्य का इतिहास
१०. अकबरनामा
११. माहेश्वरी, हीरालाल—राजस्थानी भाषा और साहित्य
१२. मेनारिया, मोतीलाल—राजस्थानी भाषा और साहित्य
१३. राघवदास—भक्तमाल
१४. नाभादास—भक्तमाल
१५. श्यामलदास—वीरविनोद
१६. भाटी, नारायणसिंह—जैसलमेर री ख्यात
१७. साकरिया, बदरीप्रसाद—नैणसी री ख्यात
१८. तेस्सितोरी, एल. पी.,—वेलि क्रिसन रुक्मिणीरी
(रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बंगाल, कलकत्ता)

रावत सारस्वत

१. दळपत विलास
२. डिंगल गीत
३. मीणा इतिहास
४. महादेव पारवती री वेलि
५. दुरसा आढा
६. प्रबन्ध पारिजात
७. चंदायन

भारतीय साहित्य के निर्माता

भारतीय साहित्य के इतिहास निर्माण की दीर्घ यात्रा में जिन महान् प्राचीन अथवा अर्वाचीन प्रतिभाओं ने महत्वपूर्ण योग दिया है, उनका परिचय सामान्य पाठकों तक पहुँचाने के उद्देश्य से इस पुस्तक-माला का प्रकाशन आरम्भ किया गया है। इस अन्तर्गत अब तक हिन्दी में निम्नांकित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं :

लक्ष्मीनाथ बेजबरुआ	हेम बरुआ
बंकिमचन्द्र चटर्जी	सुबोधचन्द्र सेनगुप्त
बुद्धदेव बसु	अलोकरंजन दासगुप्त
चण्डीदास	सुकुमार सेन
ईश्वरचन्द्र विद्यासागर	हिरण्मय बनर्जी
जीवनानन्द दास	चिदानन्द दासगुप्त
काज़ी नजरुल इस्लाम	गोपाल हाल्दार
महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर	नारायण चौधुरी
माणिक बन्द्योपाध्याय	सरोजमोहन मिश्र
माईकेल मधुसूदन दत्त	अमलेन्दु बोस
प्रमथ चौधुरी	अरुणकुमार मुखोपाध्याय
राजा राममोहन राय	सौम्येन्द्रनाथ टैगोर
ताराशंकर बन्द्योपाध्याय	महाश्वेता देवी
श्री अरविन्द	मनोज दास
सरोजिनी नायडू	पद्मिनी सेनगुप्त
तरुदत्त	पद्मिनी सेनगुप्त
गोवर्धनराम	रमणलाल जोशी
मेघाणी	वसन्तराव जटाशंकर त्रिवेदी
नानालाल	उमेद भाई मणियार
नर्मदाशंकर	गुलाबदास ब्रोकर
भारतेन्दु हरिश्चन्द्र	मदन गोपाल
बिहारी	बच्चन सिंह
देवकीनन्दन खत्री	मधुरेश
घनानन्द	लल्लन राय
हरिऔध	मुकुन्ददेव शर्मा
जयशंकर प्रसाद	रमेशचन्द्र शाह
जायसी	परमानन्द श्रीवास्तव
कबीर	प्रभाकर माचवे
केशवदास	जगदीश गुप्त
महावीर प्रसाद द्विवेदी	नन्दकिशोर नवल
नन्ददुलारे वाजपेयी	प्रेमशंकर
प्रेमचन्द	प्रकाशचन्द्र गुप्त
राहुल सांकृत्यायन	प्रभाकर माचवे
रैदास	धर्मपाल मैनी
श्यामसुन्दरदास	सुधाकर पाण्डेय
सुभद्रा कुमारी चौहान	सुधा चौहान
यशपाल	कमला प्रसाद
बी० एम० श्रीकंठय्य	ए० एन० मूर्तिराव

बसवेश्वर	एच० थिप्पेरुद्रस्वामी
विद्यापति	रमानाथ झा
ए० आर० राजराज वर्मा	के० एम० जॉर्ज
चन्दु मेनन	टी० सी० शंकर मेनन
कुमारन् आशान	के० एम० जॉर्ज
महाकवि उल्लूर	सुकुमार अषिकोड
वल्लत्तोल	बी० हृदयकुमारी
वत्तकवि	अनुराधा पोतदार
ज्ञानदेव	पुरुषोत्तम यशवन्त देशपाण्डे
हरिनारायण आपटे	रामचन्द्र भिकाजी जोशी
केशवसुत	प्रभाकर माचवे
नामदेव	माधव गोपाल देशमुख
नरसिंह चिंतामण केलकर	रामचन्द्र माधव गोले
श्रीपाद कृष्ण कोल्हटकर	मनोहर लक्ष्मण वराडपांडे
तुकाराम	भालचन्द्र नेमाड़े
फ़कीरमोहन सेनापति	मायाधर मानसिंह
राधानाथ राय	गोपीनाथ महन्ती
सरलादास	कृष्णचन्द्र पाणिग्राही
भाई वीर सिंह	हरबंस सिंह
दुरसा आढ़ा	रावत सारस्वत
जाम्भोजी	हीरालाल माहेश्वरी
मुँहता नैणसी	ब्रजमोहन जावलिया
प्रिथीराज राठौड़	रावत सारस्वत
सूर्यमल्ल मिश्रण	विष्णुदत्त शर्मा
बाणभट्ट	के० कृष्णमूर्ति
भवभूति	गो० के० भट
जयदेव	सुनीति कुमार चटर्जी
कल्हण	सोमनाथ धर
क्षेमेन्द्र	ब्रजमोहन चतुर्वेदी
माघ कवि	चण्डिकाप्रसाद शुक्ल
सचल सरमस्त	कल्याण बू० आडवाणी
शाह लतीफ़	कल्याण बू० आडवाणी
भारती	प्रेमा नन्दकुमार
इलंगो अडिगल	मु० वरदराजन
कम्बन	एस० महाराजन
माणिक्कवाचकर	जी० वंमीकनाथन
नम्मालवार	ए० श्रीनिवास राघवन
पोतन्ना	दिवाकर्ल वेंकटावधानी
वेदम वेंकटराय शास्त्री	वेदम वेंकटेश्वर शास्त्री (कनिष्ठ)
गुरजाड	नार्ल वेंकटेश्वर राव
वीरेशलिंगम्	नार्ल वेंकटेश्वर राव
वेमना	नार्ल वेंकटेश्वर राव
ग़ालिब	मुहम्मद मुजीब